नम्र निवेदन

प्रभु भक्ति परमानन्द [illegible] सोपान है। अनादिकाल से अनन्तानंत जीव इसके द्वारा अपना आत्म-कल्याण कर चुके हैं परन्तु आज भौतिकवाद के युग में लोगों की श्रद्धा धर्म से विमुख होती जा रही है। भाले भाले जीवों के मस्तिष्क में इस उत्तम और सरल आत्म-कल्याण के मार्ग के बारे में भी अनेक संशय और धारणाएं फैल रही हैं। उनका निराकरण करने के लिए विद्वान् और उपकारी महापुरुषों ने कई पुस्तकों की रचना की है—जैसे पूज्य पन्यास श्री भद्रंकर विजयजी महाराज की "प्रतिमा पूजन", आचार्य महाराज श्रीमद् विजय लब्धिसूरिजी का "मूर्ति मंडन", मुनिश्री ज्ञानसुन्दरजी के "मूर्ति पूजा का प्राचीन इतिहास।" ये पुस्तकें कुछ विस्तृत भी हैं और वर्तमान में प्रायः अनुपलब्ध हैं। अतः इन्हीं पुस्तकों के आधार पर प्रश्नोत्तर रूप में इस पुस्तक को तैयार किया गया है।

इसकी तैयारी में पूज्यपाद पन्यास श्री भद्रंकर विजयजी महाराज, गणिवर श्री धर्मसागरजी महाराज ने विशेष सहायता प्रदान की है। संशोधन कार्य शान्तमूर्ति पूज्य मुनिराज श्री भद्रंकर विजयजी ने करने की कृपा की है।

इन सब मुनि महाराजों तथा उपरोक्त पुस्तकों के लेखक महानुभावों के हम अत्यन्त आभारी हैं।

पंडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने "प्रतिमा पूजन" के कुछ गुजराती प्रश्नोत्तरों का हिन्दी अनुवाद किया है वह भी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रश्नोत्तर समहादि में शास्त्रीय मर्यादा और विनम्रता का पूरा २ ध्यान रखा गया है तथापि यदि कुछ भूल या त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए क्षमा प्रार्थी हैं।

पाठक महोदय इस पुस्तक का निष्पक्ष भाव से पढ़ें, विचारें, जीवन में उतारें और आत्मा का कल्याण करें। यह शुभाकांक्षा—

ब्यावर
आषाढ़ कृष्णा १४
सं० २०१४

निवेदक—
श्री जैन साहित्य समिति की ओर से
शंकरलाल मुणोत, शोरीलाल नाहर

—

"प्रास्ताविक किंचित्"

सब संसारी जीव सुख चाहते हैं और सुख की प्राप्ति के लिए दिन रात प्रयत्न भी करते हैं तथापि सतत उद्यम के पश्चात् जब सुख नहीं मिलता तो मानना चाहिये कि कहीं कुछ गलती है।

यह गलती और कुछ नहीं, परन्तु जीव का देवगुरु की सेवा के प्रति दुर्लक्ष्य-अनादर ही है।

देव गुरु दोनों में भी प्रारंभ में देव सेवा ही आवश्यक है। देव सेवा से जीव की समझ में न आ सके ऐसी चित्त की शुद्धि होती है, मन की मलिनता नष्ट होती है विचार शुद्ध होते हैं सद्विचारों से प्रीति बनती है फलतः सदाचारी त्यागी ज्ञानी विरागी साधु पुरुषों की तरफ आकर्षित होता है और ऐसे महात्माओं की सेवा करने का भाव पैदा होता है जिससे ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप औषध को प्राप्त कर सर्वदा दुःखों का नाश स्वरूप अविनाशी सुख को पाता है।

इस प्रकार सुख की प्राप्ति का मूल उपाय देव गुरु की सेवा व भक्ति है।

ऐसे सुख की प्राप्ति शुद्ध देव की सेवा से ही शक्य है। जो देव रागद्वेष अज्ञान को समूल नाश कर वीतराग सर्वज्ञ, जिन बने हैं, उन जैन देवाधिदेव को निरंतर 'अरिहंत तीर्थंकर' कहते हैं। उनकी सेवा जिस प्रकार उनके नाम स्मरण से होती है उसी प्रकार उनकी मूर्ति की सेवा से भी होती है।

कई लोग ऐसी मूर्ति की पूजा सेवा दर्शनादि में अधर्म-हिंसा मानते मनाते हैं, उनको तथा धर्म मानने पर भी जो लोग मूर्ति की सेवा में प्रमाद करते हैं, उनको इस पुस्तक में प्रश्नोत्तर के रूप में सत्य ज्ञान बतलाने का प्रयत्न किया गया है।

इस पुस्तक में मूर्ति पूजा की शास्त्र सिद्धता के उपरांत तर्क युक्ति और व्यवहार से भी करणीयता सिद्ध की गई है।

इस पुस्तक से बुद्धिमान मूर्ति पूजा का महत्त्व और फल तथा जीवन के साथ इसका कैसा सम्बन्ध है, इन बातों को पूर्ण मध्यस्थ और सूक्ष्म बुद्धि से सोचें और सत्य को प्राप्त करें।

॥ इति शम् ॥

श्रीजिन चरणोपासक—

मुनि भद्रंकर विजय, अहमदाबाद

विपत्ति यह वास्तविक विपत्ति नहीं, प्रभु को भूलना ही विपत्ति है।

सम्पत्ति, यह सच्ची सम्पत्ति नहीं, प्रभु का स्मरण ही सच्ची सम्पत्ति है।

उपोद्घात

समर्थ शास्त्रकार महर्षि आचार्य श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी और उनसे भी पूर्ववर्ती महान महर्षि फरमाते हैं—

> चैत्यवन्दनतः सम्यक्, शुभो भावः प्रजायते।
> तस्मात् कर्मक्षयः सर्वं, ततः कल्याणमश्नुते॥

चैत्य अर्थात् श्री जिन मन्दिर अथवा श्री जिनबिम्ब को सम्यक् प्रकार से वन्दन करने से प्रकृष्ट शुभ भाव उत्पन्न होता है। शुभ भाव से कर्म का क्षय होता है और कर्म के क्षय से सर्व कल्याण की प्राप्ति होती है।

'चैत्य वन्दन' का ही दूसरा अर्थ है—प्रतिमा पूजन। मन, वचन और काय की प्रशस्त प्रवृत्ति का नाम वन्दन है। मन से ध्यान करना, वचन से स्तुति करना और काय से पूजनादि करना, यह शास्त्ररूढ़ि के अनुसार वन्दन क्रिया कहलाती है। श्री अरिहंत के चैत्यों को मन-वचन-काय से वन्दन करना, सुगंधित पुष्पमाला आदि द्वारा उनकी पूजा करना, प्रवर वस्त्रालंकारों द्वारा उनका

सत्कार करना और गुण स्तुति द्वारा उनका सन्मान करना जन्म जन्मान्तर में जिनधर्म की प्राप्ति का कारण है और अंत में जन्म जरा मरण आदि दुःखों के स्पर्श से रहित निरुपसर्ग मोक्ष पद प्रदान करने वाला है। ऐसा सूत्रकार भगवंतों ने मूल सूत्रों में ही फर्माया है।

"चैत्यवंदन का अर्थ अरिहंतों की प्रतिमाओं का पूजन" किस प्रकार होता है इस सम्बन्ध में शब्दशास्त्रविशारदों का कथन है कि—

'चित्तम् अन्त करणं, तस्य भावः कर्म वा, प्रतिमा लक्षणम् अर्हच्चैत्यम्। अर्हतां प्रतिमा प्रशस्त-समाधि चित्तोत्पादकत्वात् चैत्यानि भण्यन्ते।'

चित्त अर्थात् अन्त करण। अन्त करण का भाव या अंत करण की क्रिया को चैत्य कहते हैं। अरिहंतों की प्रतिमायें अन्त करण की प्रशस्त समाधि को उत्पन्न करती हैं, अत वे चैत्य कहलाती हैं।

चैत्य शब्द का दूसरा अर्थ—

चैत्यं जिनौकस्तद्बिम्बम्।

अर्थात् जिनगृह अथवा जिन बिम्ब को चैत्य कहते हैं।

चैत्य का यह अर्थ भी किया गया है। उस चैत्य को वंदन आदि करने से शुभ भाव की वृद्धि होती है। शुभ भाव की वृद्धि

से उत्तरोत्तर सम्यग्दर्शनादि विशुद्ध धर्मों की प्राप्ति होती है और इससे परम्परा से समस्त कर्मों से मुक्ति आदि महान् कार्य सिद्ध होते हैं।

अर्हन्त चैत्यों अर्थात् अरिहंतों की प्रतिमाओं को वन्दन पूजन आदि करने से सम्यग्दर्शन आदि आत्मगुणों की प्राप्ति और कर्म क्षय की सिद्धि होती है। ऐसा ही हरिभद्रसूरि म० आदि सूरिपुंगवों ने ही नहीं फर्माया है किन्तु उनसे पूर्ववर्ती पूर्वधर भगवान् श्रीजिन भद्रगणि क्षमाश्रमण दस पूर्वधारी भगवान श्री उमास्वामिजी और चौदह पूर्वधर श्रुतकेवली भगवान् श्री भद्रबाहु स्वामी आदि अनेक सूरीश्वरों ने भी महाभाष्य, पूजा प्रकरण आवश्यक निर्युक्ति आदि महाशास्त्रों में इसी प्रकार कहा है। यही नहीं, किन्तु मूल आवश्यक सूत्रकार गणधर भगवान् श्री सुधर्मास्वामीजी महाराज ने कायोत्सर्ग आवश्यक और उसके आलावों में भी स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है।

प्रतिमा पूजन की सिद्धि और श्रेय साधनता के लिये इससे अधिक प्राचीन और प्रबल प्रमाण दूसरे शायद ही हो सकते हैं। प्रतिमा पूजन कोई अज्ञान, स्वार्थसाधु या धूर्त पुरुषों द्वारा उपजाई हुई निरर्थक क्रिया नहीं है, किन्तु सर्वोत्तम ज्ञान के धारक निःस्वार्थ और शुद्ध पुरुषों के द्वारा स्व-पर कल्याण के लिए दर्शाई अनोड और अनुपम सफल धर्म क्रिया है।

वर्तमान युग, धर्म के विषय में एक अपेक्षा से बहुत थोड़ा विचार करने वाला है। विरले ही मिलते हैं जो धर्म के विषय में गहरा उतरने का प्रयास करते हों। ऐसी स्थिति में मिथ्या बातों

का जीवन में आ जाना और सच्ची वस्तुओं का जीवन में से निकल जाना बिलकुल सरल है। श्री जिन प्रतिमा पूजन एक सर्वोत्तम धर्मानुष्ठान है। इसकी कोटि का दूसरा धर्मानुष्ठान तीन लोक में भी मिलना कठिन है। किन्तु उसके सामने अज्ञानता, पूर्वग्रह, कुशिक्षा, जड़वाद, उपेक्षा और धर्म के प्रति बेदरकारी आदि अनिष्ट छाती तान कर खड़े हैं। उन सबसे स्वयं बचना और दूसरों को बचाने के लिये कटिबद्ध होने की आवश्यकता है। ऐसे समय में भी श्री जिन प्रतिमा पूजन की श्रेष्ठता साबित करने वाला इतना ही नहीं, किन्तु अनेक प्रकार का साहित्य प्रकाश में लाना आवश्यक है। इस भगीरथ कार्य का एक अंश भी यदि इस पुस्तक से सिद्ध हो सका तो भी यह प्रयास सफल गिना जावेगा।

—पन्यास भद्रंकर विजय गणी

> शास्त्र समुद्र में अवगाहन करने से मुझे यह सार मिला है कि श्रीजिन भक्ति परम सुख सम्पदाओं का बीज है।
>
> —महोपाध्याय यशोविजयजी

—अशुद्धि पत्रक—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	हानी	होगी
४	२	शान्तमय	शान्तिमय
१२	१४		की
१३	१६	बनाता	बनता
१३	१८	उने	ईन
२०	४	मणि ग	मणि म
२७	२०	स्वद्वित	स्वद्वितीय
३७	२०		स
४०	२	भगवान्	भगवान्
४०	७		जिनको
४०	८		को मानव
४३	४	ज्योतिस्वरूप	ज्योति स्वरूप
४३	६	ज्योति	ज्योतिः
६४	६		तुल्य
६४	८	महत्त्व	महत्त्वता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६	१२	मोत्तादयक	मोत्तदायक
५०	४	चित्रानल	चित्रावेल
५३	१५	थारह	ग्यारह
५४	४	मूर्त्ति	मूर्त्तिश्रों
६१	१०		यह
६६	२०		वगैरह
६७	१५		नगैरह
७०	१	सुवाहुकुमार	सुवाहुकुमारको
७०	६	श्रमनारम्भ	श्रमदारम्भ से
७२	५		जिनाज्ञा
७२	११	हमन	हनन
७३	१२	महामापा	महामाण्य
७३	१४	फर्माते	फर्माने
७४	१६	जिनविरहमि	जिणविरहमि
७४	१८	जहाजाय	श्रहाजाय
७४	१६	कितिकम्म	किसिकम्मे
७५	५	हैं	ह
७५	५	दह	द्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७६	४	से	सा
८४	३	पदशिज्जओ	पदशिज्जाओ
८४	१८		कर्त्तव्य
८६	६		
८६	११	अहयाइमेताइ	अहयाइ यमेताइ
८६	१४	वाद	वाद
८७	११	मानो	मानों
८७	१६	उवागच्छइत्ता	उवागच्छित्ता
८७	१६	अणुप्पविमइ	अणुप्पविसइ
८७	१७	अणुप्पविमइत्ता	अणुप्पविसिइत्ता
८८	१	ईसिं	ईसिं
८८	७	अरिहंतार्णं	अरिहंताणं
८८	६	बलि	बलि
८९	५	श्री महाकल्पसूत्र	श्री महाबृहत्कल्पसूत्र
९१	१४	हैं	हां,
९२	१६	प्रभु	प्रभु
९२	१९	जिणपयर्णोहि	जिणापयणेहि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	६	धूमसय	धूमसय
६३	६	चउवीसं	चउवीस
६४	१५	आयामविरकमेण	आयामवियरणभेण
६५	१	उन्मीलन	उन्मीलन
६५	४	तणा	तणा
६५	४	जेनो	जेणों
६५	४	महेरो	दहेरा
६५	४	कराव्यो	कराव्यां
६५	५	वचन	रचने
६५	६	बेसे	बसे
६५	१७	दहेरा	दहेरां
६५	१७	कराव्या	कराव्यां
६७	५	माहे	मोहे
६८	२	तुम	तुम्ह
६८	५	ऐ	[illegible]
६८	७	सरखी	सरिखी
६९	१४	वलि	वली
६९	६	वरिया	वरियो

ॐ ह्रीं श्रीं शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः

श्री प्रभु पूजन का शास्त्रोक्त महत्त्व

श्री सुविधिनाथ भगवान् का स्तवन

(योगिराज श्री आनन्दघनजी विरचित)

सुविधि जिणेसर पाय नमीने, शुभ करणी एम कीजे रे।
अति घणो उलट अंग धरीने, प्रह उठीने पूजीजे रे ॥१॥
द्रव्य भाव शुचि भाव धरीने, हरखे देहरे जइए रे।
दह तिग पण अहिगम साचवता, एकमना धुरि थईए रे ॥२॥
कुसुम अक्षत वर वास सुगन्धो, धूप दीप मन साखी रे।
अंग पूजा पण भेद सुणी इम, गुरु मुख आगम भाखी रे ॥३॥
एहनु फल होय भेद सुणीजे, अनन्तर ने परम्पर रे।
आणापालन चित्तप्रसन्नी, मुगति सुगति सुरमंदिर रे ॥४॥
फुल अक्षत वर धूप पइवो, गंध नैवेद्य फल जल भरो रे।
अंग अग्र पूजा मली अडविध, भावे भविक शुभ गति वरी रे ॥५॥
सत्तर भेद एकवीस प्रकारे, अठोत्तर शत भेदे रे।
भावपूजा बहुविध निरधारी, दोहग दुरगति छेदे रे ॥६॥
तुरिय भेद पडिवत्ती पूजा, उपशम खीण सयोगी रे।
चउहा पूजा इम उत्तरझयणे, भाखी केवल भोगी रे ॥७॥
इम पूजा बहु भेद सुणीने, सुखदायक शुभ करणी रे।
भविक जीव करशे ते लेशे, आनन्दघन 'पद' धरणी रे ॥८॥

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—सम्यक्त्वधारी श्रावक ६ काया के आरम्भ-वाली प्रभु पूजा का आचरण कैसे कर सकता है ?

उत्तर—हे भव्य ! ऐसा विचार श्री जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा से बाहर है, क्योंकि जो क्रिया यतना और भक्ति पूर्वक है, उस क्रिया में शास्त्रकारों ने दोष नहीं बतलाया ।

यदि यतना और भक्ति पूर्वक आचरित क्रिया में यत्किञ्चित हिंसा का लेश होने से उसे दूषित कहोगे तो फिर प्रतिक्रमण, मुनिदान, साधु विहार आदि क्रियाओं में भी दोष की पुष्टि माननी पड़ेगी । प्रतिक्रमण में उठते, बैठते वायु काया के जीवों की हिंसा होती है । मुनि विहार में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति की हिंसा होती है और नेइन्द्रिय आदि त्रस जीवों का भी घात होता है । भगवती सूत्र में शंख पुष्कली आदि श्रावकों के अधिकार में साधर्मिक वात्सल्य में विपुल अशन रधाने और पान, खादिम, स्वादिम, आहार तैयार कराने का वर्णन आता है । स्थानाग सूत्र में जल में डूबती साध्वी को साधु तैर कर निकाले ऐसी आज्ञा है । ज्ञात

सूत्र में जो दीक्षा लेवे उसके घर का निर्वाह कृष्णजी ने करने की घोषणा की है।

प्रश्न–हिंसा से युक्त होने पर भी क्या इन सब को दोष युक्त नहीं मानोगे ?

उत्तर–यतना और भक्ति पूर्वक की गई ये सब क्रियाएं निर्दोष मानी जाती हैं। उसी प्रकार यतना और भक्ति पूर्वक की गई प्रभु पूजा भी सर्वथा निर्दोष है। तथा शुभ अध्यवसाय होने से अशुभ कर्म बन्ध हो ही नहीं सकता। प्रभु वीर परमात्मा के हस्त दीक्षित श्री धर्मदासजी गणि उपदेश माला की चौवीसवीं गाथा में लिखते हैं कि—"आत्मा जिस २ समय जैसे शुभ अथवा अशुभ परिणाम में प्रवर्तता है, उस समय वह वैसे ही शुभ अथवा अशुभ कर्म बाँधता है।"

पूजा करने वाले के ऐसे परिणाम होते ही नहा कि जल, पुष्प आदि के जीवों का विनाश करू ! परन्तु पूजा रसिक भव्यात्मा का लक्ष्य बिन्दु यह होता है कि तरणतारण परमात्मा का पूजन करके आत्मिक उल्लास पूर्वक शुभ अध्यवसायों द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल करूँ और दु खमय संसार समुद्र से तरू। ऐसे सुन्दर परिणामों में रमण करता हुआ वह भव्यात्मा यतना पूर्वक जल से

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—सम्यक्त्वधारी श्रावक ६ काया के आरम्भ वाली प्रभु पूजा का आचरण कैसे कर सकता है ?

उत्तर—हे भव्य ! ऐसा विचार श्री जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा से बाहर है, क्योंकि जो क्रिया यतना और भक्ति पूर्वक है, उस क्रिया में शास्त्रकारों ने दोष नहीं बतलाया ।

यदि यतना और भक्ति पूर्वक आचरित क्रिया में यत्किंचित हिंसा का लेश होने से उसे दूषित कहोगे तो फिर प्रतिक्रमण, मुनिदान, साधु विहार आदि क्रियाओं में भी दोष की पुष्टि माननी पड़ेगी । प्रतिक्रमण में उठते, बैठते वायु काया के जीवों की हिंसा होती है । मुनि विहार में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति की हिंसा होती है और बेइन्द्रिय आदि त्रस जीवों का भी घात होता है । भगवती सूत्र में शख पुष्कली आदि श्रावकों के अधिकार में साधर्मिक वात्सल्य में विपुल अशन रधाने और पान, खादिम, स्वादिम, आहार तैयार कराने का वर्णन आता है । स्थानांग सूत्र में जल में डूबती साध्वी को साधु तैर कर निकाले ऐसी आज्ञा है । ज्ञाता

सूत्र में जो दीक्षा लेवे उसके घर का निर्वाह कृष्णजी ने करने की घोषणा की है।

प्रश्न—हिंसा से युक्त होने पर भी क्या इन सब को दोष युक्त नहीं मानोगे ?

उत्तर—यतना और भक्ति पूर्वक की गई ये सब क्रियाएं निर्दोष मानी जाती हैं। उसी प्रकार यतना और भक्ति पूर्वक की गई प्रभु पूजा भी सर्वथा निर्दोष है। तथा शुभ अध्यवसाय होने से अशुभ कर्म बन्ध हो ही नहीं सकता। प्रभु वीर परमात्मा के हस्त दीक्षित श्री धर्मदासजी गणि उपदेश माला की चौवीसवीं गाथा में लिखते हैं कि—"आत्मा जिस २ समय जैसे शुभ अथवा अशुभ परिणाम में प्रवर्तता है, उस समय वह वैसे ही शुभ अथवा अशुभ कर्म बाँधता है।"

पूजा करने वाले के ऐसे परिणाम होते ही नहीं कि जल, पुष्प आदि के जीवों का विनाश करूं ! परन्तु पूजा रसिक भव्यात्मा का लक्ष्य बिन्दु यह होता है कि तरण-तारण परमात्मा का पूजन करके आत्मिक उल्लास पूर्वक शुभ अध्यवसायों द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल करूँ और दुःखमय संसार समुद्र से तरूं। ऐसे सुन्दर परिणामों में रमण करता हुआ वह धन्यात्मा यतना पूर्वक जल से

स्नान करके बाह्य और अभ्यन्तर पवित्र होकर वीतराग प्रभु की शान्तमय प्रतिमा का दर्शन करता है, चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ से विलेपन करता है, पुष्प चढ़ाता है, धूप दीपक प्रगट करता है। इन सब क्रियाओं को वह भक्ति और यतना पूर्वक करता है। इन क्रियाओं में जल पुष्पादि के जीवों का विनाश करने का परिणाम नहीं होता, अपितु वह तो प्रभु भक्ति में तन्मय बन जाता है। अध्यवसाय बिना बन्धनरूप कर्म कैसे लग सकते हैं?

चौदह पूर्वधारी श्री भद्रबाहुस्वामी श्री आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति में फरमाते हैं कि देशविरति श्रावक के लिए द्रव्य पूजन करना योग्य है। यह द्रव्य पूजन संसार का क्षय करने वाला है। द्रव्य पूजन पर कुएँ का दृष्टान्त समझना। जैसे किसी नये बसे हुए गांव में अधिक जल न होने के कारण प्यास आदि से पीड़ित लोग नया कुआ खोदते हैं। पहले तो कुआ खोदते समय प्यास बढ़ती है, कपड़े भी मैले हो जाते हैं परन्तु कुए से पानी निकलने पर उससे न केवल अपनी प्यास ही बुझा लेते हैं और मैल दूर कर लेते हैं परन्तु पहले के गंदे कपड़ों की मैल दूर करके उनको भी निर्मल बना डालते हैं। उसी प्रकार द्रव्य पूजन में यत्किंचित सावद्य है। किन्तु यह कर्मबन्ध का हेतु नहीं है अपितु उससे परिणाम की शुद्धि होती है इसलिये कर्म निर्जरा का हेतु ही शुभ 'परि–

णामों द्वारा वह पूर्व संचित कर्मों का नाश करता है, विवेक और उदारता पूर्वक द्रव्य पूजन करके वह शासन की भी उन्नति करता है और इससे दूसरे भी बोध को प्राप्त होकर अनुमोदना करते हैं। इस प्रकार स्व और पर आत्मा के कर्म मल दूर करने वाला होने से द्रव्य पूजन श्रावकों को अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—मूर्ति जड़ है। उसको पूजने में क्या लाभ ?

उत्तर—जड़ में इतनी शक्ति है कि चैतन्य को हानि लाभ पहुंचा सकता है। दश वैकालिक सूत्र में आज्ञा है कि जहां स्त्री का चित्र हो वहाँ साधु न ठहरे। चित्र लिखित स्त्री जड़ होने पर भी, चित्त चपल कर देती है। जड़ भांग चैतन्य का भान (होश) भुला देती है। जड़ सूत्र चैतन्य को बोध कराते हैं। इसी भांति जड़ मूर्ति आत्मा के मलिन मन को निर्मल बना देती है। मित्रों! आज कल का जड़ मैस्मरेज्म और साइन्स कैसे २ चमत्कार दिखा रहे हैं, फिर यहाँ जड़ के बारे में कोई शंका न करके केवल मूर्ति को ही जड़ मान उससे कुछ न मानना अपनी अज्ञानता का द्योतक नहीं तो और क्या है ?

प्रश्न—क्या जड़ चैतन्य को लाभ-हानि पहुँचाता है ?

उत्तर—हां ! जड़ में भी उपचार (आरोप) करने से भाव को असर पहुँचाता है। मैं पूछता हूँ, एक गृहस्थ साधु बने—इसमें आप बाह्य क्रिया से सामायिक व्रतों का उपचार (आरोप) ही करते हो, कपड़े पहनाते हो, रजोहरण देते हो, सब जड़ ही हैं—भाव तो उसका कोई प्रगट दिखलाई देता ही नहीं है, फिर भी उसको वन्दन करने का भाव पैदा होता है, वन्दन करके आत्मा कृत-कृत्य बनता है, कर्म निर्जरा होती है, यह सब कमाई सिर्फ उसको साधु मानने से ही होती है। बिना भाव जाने उसको साधु मानना मनाना यह उपचार रूप ही है। एक कन्या का ब्याह किसी लड़के के साथ होता है। यह भी उपचार ही है, किन्तु इस उपचार से दोनों को आपस में काम राग स्नेह राग का विस्तार होता है। एक नौकर जब नौकरी मंजूर करता है, तब अपने मालिक की तरफ उसको विनयभाव पैदा होता है। यह भी उपचार का ही फल है। नौकरी छूट जाने पर ऐसा भाव भी छूट जायगा। एक आदमी अपने शरीर पर सरकारी पुलिस का वेष पहनता है, यह भी उपचार ही है किन्तु पुलिस के कपड़े पहनते ही उसके दिल में सत्ता का पावर पैदा होता है। एक विद्यार्थी अपने शिक्षक के पास पढ़ाई शुरु करता है—उसे शिक्षक मानता है, यह भी उपचार ही

है, किन्तु इस उपचारसे विद्यार्थी अपने को लघु मानता है, शिक्षक के प्रति बहुमान पैदा करता है। [illegible] तरह जैन दर्शन के सब व्यवहार-धर्म उपचार से ही सिद्ध हैं। सामायिक के समय मुहपत्तिका रजोहरण (चरवली) वगैरह धारण करने पर श्रावक को सामायिक का भाव पैदा होता है, यह भी जड का उपचार ही है, साधु साधु वेष पहनते ही अपने को प्रवृत्ति में मर्यादित बनाता है यह भी जड का सहारा है, इस तरह सब व्यवहार जड से ही चलता है। निश्चय धर्म आत्म गुणों के आलम्बन से होता है। व्यवहार धर्म जड के आलम्बन से होता है। जड के सहारे से व्यवहार धर्म करते करते आत्मा को भाव पैदा होता है। यह बात सब प्रवृत्तियों से सिद्ध है। इस तरह जडमूर्ति में शास्त्रोक्त विधि से तीर्थङ्करपना का उपचार किया जाता है। जब उसको देखते ही तीर्थङ्कर-वत् मान (ख्याल) पैदा होता है। एक कागज के टुकडे का बनाया हुआ मनुष्य का आकार व फोटू या चित्र सब जड होते हुए भी पहचान कराता है, राग द्वेष कराता है, इस तरह जिन प्रतिमा भी उसके भक्त को राग क्यों पैदा न करे ? एक आदमी अपने घर को पहचानता है। उसमें घर का आकार ही मुख्य कारण है। अपने कपडे को, बरतन को, यावत् कोई भी पदार्थ को पहचानता है

इसमें आकार ही मुख्य कारण है। जगत् के व्यवहार मात्र में आकृति का आश्रय है। अपने स्वजनों की पहचान, राग वगैरह होता है, वह भी उसकी मुखाकृति के बल से होता है। ज्यादा क्या समझावें—जब तक आत्मा को जड़ की पराधीनता है, अपना काम जड़ इन्द्रिया व मन के आधार पर करना निश्चित है, तब तक उसको बिना जड़ की सहाय कुछ करना शक्य नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में जब मन-वचन काया के योगों का निरोध होता है, अयोगी अवस्था आत्मा की होती है, तब ही बिना जड़ की सहायता वह कर्म को नाश कर सिद्ध होता है। आप मानो या न मानो जीव को नेत्र (चक्षु) की सफलता आकार से ही है। यदि आकार कुछ काम का नहीं है, तो नेत्र से आप क्या काम करोगे ? आपके नेत्रों का फल ही क्या होगा ? (ऐसे तो एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय के समान ही चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय भी होंगे, न उसको नेत्र से कोई लाभ होगा ?) मध्यस्थ मन जगत् के स्वरूप का ख्याल करने पर तुरन्त ही यह बात समझ में आयगी। सूक्ष्मबुद्धि और निष्पक्षता धर्म के मूल में आवश्यक है। जो लोग मूर्ति को नहीं स्वीकारते, उनका कोई भी व्यवहार बिना मूर्ति नहीं होता है। मूर्ति का अर्थ है प्रकट रूप-आकार और रूप आकार जिसमें है सब

मूर्ति कही जाती है। श्री जिन के आकार को जिनमूर्ति कहते हैं। द्रव्य मात्र जिन की सेवा भी उनके आकार द्वारा होती है। आत्मा अरूपी-अमूर्त है, उसका दर्शन वन्दनादि कुछ नहीं बनता, शरीर का ही दर्शन वन्दनादि होता है। उसका ज्ञान गुण भी अरूपी है फिर भी अक्षरों के आकार में उसकी भक्ति होती है। भाषावर्गणा के पुद्गलमें ही ज्ञान को प्रगट करते हैं, शब्द मात्र पुद्गल का आकार ही है। यह शब्दसे श्रवण करनेमें जैसे ज्ञान गुण पैदा होता है, इसी तरह जिनमूर्ति वीतरागता का आकार जड़ होने पर भी उसको देखनसे, स्तुति करनेसे, पूजन करने से वीतरागता पैदा होती ही है। [दुर्भव्य को या अभव्य को ही द्वेष होता है। मिठाई अच्छी होने हुए भी रोगी को द्वेष होता है उसमें रोग कारण है, इस तरह मूर्ति उपकारी होते हुए भी द्वेष पैदा होना कर्म रोगों का ही कारण है, इत्यलम्।]

प्रश्न—भगवान् ने तो दान, शील, तप एवं भाव यह चार प्रकार का धर्म बतलाया है। मूर्तिपूजामें कौनसा धर्म है ?

उत्तर--(१) पूजा में अक्षतादि द्रव्य अर्पण किय जाते हैं यह सुपात्र में दान हुआ।

कार्य ही नहीं होगा, फल यह आया कि देव आगामी मनुष्यायुष्य का बन्ध ही नहीं करेगा। सबको एक ही तिर्यञ्चगति की प्राप्ति होगी। आप कहिये! देव मनुष्य बनता है इसमें क्या कारण है? इसकी सब करणी मात्र आचार ही बन जायगी, कोई क्रिया धार्मिक नहीं होगी।

प्रश्न—तप संयम से कर्मों का क्षय होना बतलाया है पर मूर्ति पूजा से कौन से कर्मों का क्षय होता है? यहाँ तो उल्टा कर्म बन्धन है।

उत्तर—मूर्ति पूजा तप संयम से रहित नहीं है। जैसे तप संयम से कर्मों का क्षय होता है वैसे ही मूर्ति पूजा से भी कर्मों का नाश होता है, जरा पक्षपात का त्याग कर देखिए मूर्ति पूजा की किस २ क्रिया से कौन से कर्मों का क्षय होता है!

(१) चैत्यवन्दनादि भगवान् के गुण स्तुति करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय!

(२) भगवान् के दर्शन करने से दर्शनावरणीय कर्म का नाश!

(३) प्राण भूत जीव सत्त्व की करुणा से असाता वेदनीय का क्षय।

(४) अरिहंतों के गुणों का या सिद्धों के गुणों का स्मरण करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और मोहनीय कर्म का क्षय होता है।

(५) प्रभु पूजा में तल्लीन और शुभ अध्यवसाय से उसी भव में मोक्ष प्राप्ति होती है, यदि ऐसा न हो तो शुभगति का आयुष्य बन्ध कर क्रमशः (भवान्तर से) भी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(६) मूर्तिपूजा में अरिहन्तादि का नाम लेने से अशुभ नामकर्म का नाश।

(७) अरिहन्तादि को वन्दन या पूजन करने से नीच गोत्र कर्म का क्षय।

(८) मूर्ति पूजा में शक्ति का सदुपयोग और द्रव्यादि का अर्पण करना अन्तराय कर्म को दूर करता है।

[उपर्युक्त समाधान स्थूल दृष्टि का है। वास्तव में तो मूर्तिपूजा में जो द्रव्यपूजा है इसका फल 'पुण्यबन्ध' है। यह पुण्य उदित होने पर आत्मा पापी मन वचन-काया को पवित्र बना कर घाती कर्मों के नाश में सहायक बनाता है और घाती कर्मों का घात होने पर पुण्य आप ही आप छूट जाता है। जैसे एक आदमी को विकृत आहार

से मल का अवरोध हुआ, शरीर अस्वस्थ हुआ, बुखार आया, बाद में अरंडी का तेल (रेच) लिया; यह तेल मल को हटा कर पेट को साफ करेगा, बाद में स्वयं निकल जायगा और शरीर स्वस्थ होगा। इसी भांति शुभ पुण्य कर्म भी घाती कर्मों का घात कर आत्मा को सम्पूर्ण आरोग्य (केवल ज्ञानादि को) प्राप्त करा कर आत्मा से स्वयं छूट जायगा। जिन दर्शन में निश्चयनय की यह मान्यता है कि आत्मा ही आत्मा का प्रकाशक होता है, कर्म ही कर्मों का घातक है, न आत्मा कर्म को और कर्म आत्मा को कुछ कर सकता है अतः कर्मों का नाश के लिए शुभ पुण्य आवश्यक है। यह बातें 'स्याद्वाद' को समझे बिना नहीं आती।]

प्रश्न—यह समझ में नहीं आता कि अष्टमी, चतुर्दशी जैसी पर्व तिथियों में श्रावक लोग हरी वनस्पति खाने का त्याग करते हैं तो भगवान् को फल फूल कैसे चढ़ा सकते हैं ?

उत्तर—[यह तो आपकी समझ में आ सकता है कि अष्टमी चतुर्दशी के दिन उपवास करने वाले श्रावक घर पर आये हुए साधुओं को भिक्षा दे सकते हैं और उनको पुण्य भी होता है। जब आप खाने का त्याग करने पर भी दूसरों को खिलाने में पुण्य समझते हैं तो श्रावकों को

पुष्पादि से पूजा करने से लाभ क्यों नहीं? यहा पर आप पुष्पों का तोड़ना वगैरह दीखनेवाली हिंसा को हिंसा समझते हो, तो दूसरे अश में जिन पूजा रूप लाभ को भी समझते रहो। तभी आपकी सब बातों का समाधान होगा। जैसे घर में भोजन का और बाजार में दुकान का (नौकर-भाड़ा-ब्याज वट्टा का) खर्च रूप होने पर आमदनी के कारण एक उपादेय है दूसरा कम करने जैसा है। तीसरा सुरापान, वेश्यागमन, नाटक सिनेमा खेलादि कई प्रकार के खर्च एकान्त हानिकर है, हेय हैं। इसी प्रकार शिकार मासाहार भक्षण आदि से जो हिंसा होती है वह आत्मा को एकान्त भव भ्रमण कराने वाली सर्वथा हेय है, दूसरी जीव के विषय में आवश्यक जल पीना, भोजन बनाना इत्यादि कार्यों की हिंसा यथा शक्य कम करना आवश्यक है और तीसरी जिन पूजा गुरु सेवा, साधर्मिक भक्ति जिन मन्दिर मूर्ति बनाना पुस्तक लिखाना, छपाना, स्थानक-उपाश्रय पोषधशाला बनाना, वगैरह धर्म कार्यों की दिखने वाली हिंसा आत्मा को संसार से वैराग्य, सम्यक्त्व की प्राप्ति शुद्धि

और वृद्धि, ज्ञान की प्राप्ति निर्मलता और वृद्धि के साथ चारित्र धर्म की प्राप्ति रूप कई प्रकार की आत्मोन्नति कराने वाली होने से ऐसे कार्य विशेष करना आत्मा का हित है। वीतराग परमात्मा के शासन में भाव शुद्धि का कर्मबन्ध की दृष्टि से महत्त्व होने पर भी भावों की विशुद्धि में जिनाज्ञा की अत्यन्त प्रधानता बताई। बिना इसके जगत के अनेक मानवी धर्म बुद्धि से स्व-स्वमत के शास्त्रों से प्रतिपादित होने के नाते ही अनेक सावद्य कर्मो को करते हैं जिन्हें कि वीतराग शासन मिथ्यात्व की क्रिया कहता है उन्हीं के बराबर अपनी क्रियाएं भी जिनाज्ञा की प्रधानता के अभाव में भले ही विशुद्ध भाव से की गई होने पर भी मिथ्यात्व हो जाय अतः जिनाज्ञा की प्रधानता को लेकर यहां प्रतिपादन करना उचित है स्वरूप हिंसा को ज्ञानियों ने मात्र अहिंसा शब्द से परमार्थ अहिंसा ही बताई है।

किंचित हिंसा या १४वें गुण स्थान तक न पहुँचे तब तक कुछ तो हिंसा लगे ही ऐसा स्वीकार कर प्रभु पूजा में हुए द्रव्यस्तव की स्वरूप हिंसा को सावद्य मानने की चेष्टा बड़ी भयंकर है।

प्रश्न—आप जिन प्रतिमा को जिन सारखी कहते हो, क्या यह मिथ्या नहीं है ?

उत्तर—आप ही बतलाइए, यदि जिन प्रतिमाओं को जिन सारखी नहीं कहें तो फिर क्या कहें ? उन्हें किसके सारखी कहें ? क्योंकि यह आकृति सिवाय जिन के और किसी के सदृश नहीं है जिससे कि उनकी सरीखी कहें। जिन प्रतिमाओं को जिन सारखी सूत्रों के मूलपाठ में भी कहा है। जैसे जीवाभिगम सूत्र में लिखा है कि "धूव-दाऊण जिनवराणं" अर्थात् "जिनराज को धूप देने बाद" अब आप विचार करें कि देवताओं के भवन में जिन-प्रतिमाओं के सिवाय कौनसे जिनराज हैं।

[पदार्थ मात्र के नाम, स्थापना (आकृति) द्रव्य और भाव चार निक्षेप होते हैं। आप कहिए जिन का नाम जिन की बराबर है या नहीं ? यदि नहीं है, तो जपने से क्या लाभ ? आप क्यों नामजाप नहीं करते ? जिन का मृतक जिन के बराबर है या नहीं ? यदि नहीं है तो निर्वाण के बाद जिन के शरीर को इन्द्रादि देवों ने क्यों पूजन किया ? गुरु के शरीर को रोग हो तो आप उसकी दवाई क्यों करते हो ? बीमारी गुरु को है या गुरु के शरीर को ? यदि शरीर को है तो 'गुरु को बुखार चढ़ा

है' ऐसा क्यों बोला जाता है ? आप गुरु के चरणों को क्यों पूजते हैं ? क्या गुरु के चरण गुरु हैं ? यदि चरण गुरु सदृश हैं तो जिन मूर्ति ने क्या अपराध किया है कि उसको जिन सदृश न मानें ? मृतक देह की भी भक्ति आशातना होती है तो मूर्ति की क्यों नहीं ? बुद्धि से सोच कर सत्य को स्वीकार करना ही सच्चा मार्ग है।]

प्रश्न—यदि मूर्तियां वीतराग की है तो वीतराग तो त्यागी थे फिर उनकी मूर्तियों को भूषणादि से अलंकृत कर उन्हें भोगी क्यों बनाया जाता है ?

उत्तर—जो सच्चे त्यागी हैं, वे दूसरों के बनाये भोगी नहीं बन सकते, यदि बनते हों तो तीर्थंकर समवसरण में रत्न खचित सिंहासन पर विराजते हैं पीछे उनके भामण्डल, अशोकवृक्ष, सिर पर तीन छत्र और चारों ओर इन्द्र चामर के फटकार लगाये करते हैं आकाश में धर्म चक्र एवं महेन्द्र ध्वजा चलती है तथा स्वर्ण कमलों पर वे सदा चलते हैं और दीचन प्रमाण पुष्प के ढेर एवं सुगन्धित धूप चतुर्दिशि फैलाया जाता है। कृपया कहिये यह चिह्न भोगियों के थे या त्यागियों के ? यदि दूसरों की भक्ति से त्यागी भोगी बन जाय तो फिर वे वीतराग कैसे ? असल बात तो यह है कि भावुकात्मा जिनमूर्ति

का निमित्त लेकर वीतराग की भक्ति करते हैं जिससे इनके चित्त की निर्मलता होती है और क्रमश: मोक्षपद की प्राप्ति भी हो सकती है।

प्रश्न—यदि यह मूर्तियां सिद्धों की हैं तो इन पर कच्चा पानी क्यों डालते हैं।

उत्तर—भगवान् महावीर मुक्त हो गए। फिर भी अब आप क्यों कहते हैं कि अमुक दिन भगवान् गर्भ में आये। भगवान् का जन्म हुआ। इन्द्र ने मेरु पर्वत पर ले जाकर हजारों कलसों से भगवान महावीर का स्नात्र महोत्सव किया। इत्यादि आप मुँह से कहते हैं सो यह क्या है? यह भी तो द्रव्य जिन के पूजन को ही सिद्ध करता है। भेद केवल इतना ही है कि आप तो मात्र-वाणी से कहते हैं। हम उस साक्षात करके बता देते हैं।

[वास्तव में तो नाम स्थापना और द्रव्य,भाव के प्रतीक हैं। भाव तत्त्व है। जैसे जन्म के समय भगवान् 'भाव अरिहत' न होते हुए द्रव्यजिन थे, इस कारण भगवान् को मेरु पर्वत पर इन्द्रादि देवों ने कच्चा जल-पुष्प वगैरह से स्नात्र पूजन वगैरह किया, इसी न्याय से भगवान् की मूर्ति भाव जिन नहीं किन्तु स्थापना जिन है इससे द्रव्य जिन की भांति स्थापना जिन का भी कच्चा जल पुष्प

आदि से पूजन हो सकता है, गुरु के मृतक को स्नान कराना, जलाना वगैरह अनुचित नहीं है क्योंकि मृतक भाव गुरु नहीं है, द्रव्य गुरु है, उस न्याय से जिनमूर्ति स्थापना जिन है, उसको स्नान वगैरह कराना किंचित भी अनुचित नहीं है,बल्कि भक्ति है। जिनकी भक्ति से द्रव्य स्थापना नाम सचित्त जल पुष्पों का स्पर्श कराना अनुचित नहिं है।

प्रश्न—मदिरों में अधिष्ठायक देवों के होते हुए भी चोरिया क्यों हो जाती हैं ?

उत्तर—यह तो स्थापना है पर प्रभुवीर के पास एक करोड़ देवता होने पर भी दो साधुओं को गोशाला ने कैसे जला दिया था ? भला भवितव्यता भी कोई टाल सकता है। [वास्तव में वीतराग तो राग द्वेष रहित हैं। उनके अधिष्ठायकों का यह कर्तव्य है कि वे चोर डाकूओं को हटा दें। किन्तु वे छद्मस्थ हैं। पाँचों इन्द्रियों के भोग में फँसे हुए अविरत हैं। इस कारण उनका उपयोग न होना असम्भवित नहीं है। ऐसे अनुपयोग के कारण चोर वगैरह चोरियाँ कर सकते हैं। चोरी करने पर अधिष्ठायक का उपद्रव होने पर चोरी का धन वापिस देने का प्रसग गुजरात के श्री शखेश्वर पार्श्वनाथ वगैरह की तीर्थ भूमि में बना है। आज चोर वहाँ पर चोरी करते ही नहीं

हैं। सब जगह अधिष्ठायकों का उपयोग होना अनिश्चित हैं। गुजरात के भावर-भोयणी, पानसर शखेश्वर वगैरह कई तीर्थों के अधिष्ठायकों का कर्त्तव्य देखने वाले लोग आज भी मौजूद हैं। जाकर उनसे पूछिये, अधिष्ठायक का प्रभाव कैसा है। अरे! दक्षिण भारत में अन्तरीक्षजी तीर्थ में श्री पार्श्व प्रभु की मूर्ति आज भी निराधार भूमि से बिना स्पर्श स्थित है। क्या बिना आधार इतना वजन वाला पाषाण अधर रह सकता है? उसका दर्शन करने के लिए विदेशी भी कई अवसरों पर आते हैं। फोटू ले जाते हैं, और मूर्ति एक सत्य तत्त्व है, इस बात को स्वीकार कर जाते हैं। महानुभाव! जैन धर्म की बिना प्राप्ति मिथ्यात्वी लोग भी जैन मूर्तियों को सत्य-देव मानते हैं, पूजते हैं, फिर आपको क्या अधिक कहा जाय? मध्यस्थ बनकर सूक्ष्म बुद्धि से सोचने पर आपको पता चलेगा। आप खुद भी सब व्यवहार में मूर्ति को स्वीकार कर रहे हो, सिर्फ जिनमूर्ति आपको मिथ्या दिखलाई देती है]

प्रश्न—जब आप मूर्ति को पूजते हो तब मूर्ति बनाने वाले को क्यों नहीं?

उत्तर—आप अपने गुरु को वन्दना करते हैं परन्तु उनके गृहस्थावस्था के माता पिता को जिन्होंने उनको

शरीर उत्पन्न किया है, वन्दना क्यों नहीं करते ? वास्तव में हम तो मूर्ति को बनाने वाले सिलावट वगैरह का भी सत्कार सन्मान करते हैं, सिर्फ हमारे धर्म का आधार श्री जिनमूर्ति को बनाने वाला समझकर, सिलावट कोई जिन नहीं है, कलाकार है। पूजा उनकी होती है जो अनन्त ज्ञान-दर्शन चारित्र वीर्य वगैरह गुणों का आधार हैं। मूर्ति जिनके गुणों का स्मरण कराती है, और उनके प्रति पूज्यभाव बढ़ाती है। जिनके चारित्र का दर्शन कराती है, इत्यादि उपकार से हम मूर्तिपूजा करते है। जिन का शरीर जिन को वीतराग बनने में सहायक है, और भव्यजीवों को देशनादि द्वारा ज्ञान दर्शन चारित्रादि सिखाता है, इस कारण से जिन के द्रव्य शरीर को भी पूजते हैं और उनके नामाक्षर पढ़ते, सुनते, जपते हि श्री जिनेश्वरदेव हमारे अन्तर में (ज्ञान में) उपस्थित होते हैं। इस कारण नाम को भी पूजते हैं, जिस जिससे हमारे ज्ञानादि गुणों के विषय में उपकार होता है वह सब पूज्य हैं। उसकी पूजा करना कृतज्ञता है, परम कर्त्तव्य है।

प्रश्न—प्रतिमाओं के पूजने से मोक्ष होता है तो तप संयम आदि कष्ट क्रिया की क्या जरूरत है ?

उत्तर—प्रतिमा पूजना मोक्ष का कारण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर भी यदि आपका प्रश्न है तो स्वयं ही बतलाइए कि दान शील को मोक्ष का कारण मानते हैं तो दीक्षा लेने का कष्ट क्यों किया जाता है? परन्तु बन्धुओ! बात ऐसी है कि दान, शील, मूर्ति पूजन यह सब मोक्ष का कारण है फिर भी जैसे गेहूँ बीज से पैदा होता है, फिर भी ऋतु-जल, वायु भूमि की अपेक्षा रखता है वैसे ही मूर्ति पूजन आदि भी तप, संयम आदि साधनों के साथ अपेक्षित हैं [वास्तव में तो तप, संयम, दान, शील आदि जो कुछ भी धर्म कार्य किया जाता है वह भी जिन पूजा ही है, सिर्फ मूर्ति पूजा से जिन पूजा पर्याप्त नहीं है। आगे बढ़ कर जिनाज्ञा का पूर्ण पालन उत्कृष्ट जिन पूजा है। इस कारण तो मूर्ति पूजा से आगे बढ़ कर जिनाज्ञाका सविशेष पालन करने के लिए दीक्षा लेना आवश्यक है। क्या कोई लड़का अपने पिता की सेवा करता हुआ पिता की आज्ञा न माने यह पिता की सेवा है? और एक लड़का आज्ञा मानने पर भी पिता को प्रणाम न करे यह क्या आज्ञा पालक कहा जाता है? क्या अपमान अनादर अवज्ञा करने पर पितृ-भक्त कहलाता है? नहीं, कभी ऐसा नहीं बनता कि आज्ञा मानने पर भी विनय न करे तो भक्त कहा जाय। भक्त

करना आवश्यक है। इस कारण से तो श्रावक साधु की पूजा भक्ति-सेवा करते हैं, जैसे साधु-गुरु की सेवा से व्रत (चारित्र) और उनके ज्ञानादि गुणों की सेवा होती है और श्रावक फल में साधु बन सकता है। उसी तरह जिन पूजा से श्रावक और साधु जिनके गुणों की पूजा करता है, फलत वह जिन वीतराग हो सकता है। अब समझ में आया होगा कि मूर्तिपूजा गुरु पूजा की भांति गुण पूजा है, गुणों को प्राप्त कराती है, अत: निर्गुणी को मूर्तिपूजा करना आवश्यक है]

प्रश्न—हम ३२ सूत्रों को मूल पाठ मानते हैं और मिलती हुई टीका वगैरह भी मानते हैं।

उत्तर—मिलती का क्या अर्थ होता है ? जब एक वस्तु के सामने दूसरी वस्तु रक्खी जाती है तब मिलती-नहीं मिलती कही जा सकती है, सो तो आपके पास कुछ प्रमाण है नहीं, फिर किससे मिला के मानते हो ? सज्जनों, आप जानते हो, वृक्ष का मूल धूल में रहता है और शाखा, प्रति शाखा, पत्र, फल में रस मिलता है। इसी भांति मूल सूत्र सूत्रमात्र हैं, पर उनका भावार्थ पञ्चाङ्गी द्वारा ही समझा जाता है। यदि आपका यही आग्रह है कि हम तो ३२ सूत्र मूल ही मानते हैं, तो बतलाइये कि आपके माने हुए

३२ सूत्रों के मूल में मूर्तिपूजा का निषेध कहा पर है ? [विना पञ्चांगी मूलसूत्र के अर्थ सत्य स्वरूप में समझ में आना दुष्कर है, मूल और पञ्चांगी तो हजारों वर्षों से है। बड़े समर्थ ज्ञानी पूर्व महर्षियों को भी मूर्तिपूजा मान्य थी। अर्वाचीन लोगों ने मूर्तिपूजा में पाप माना, यह सिर्फ मतिभ्रम ही है। आप सोचिए, समवसरण में पूर्व दिशा सन्मुख जिन विराजते थे और तीन दिशा में जिनकी मूर्ति ही रहती थी। बारह पर्षदा उसको प्रणाम करती थी, यह अनुचित होता तो खुद प्रभु के समक्ष यह क्यों चलता ? मूर्ति तो खुद प्रभु ने अपने समोसरण में भी बतलाई है, और उसकी विनयादि करने से कर्म निर्जरा व शुभकर्मों का बन्ध फरमाया है, सिखाया है, मध्यस्थ होकर सूक्ष्म अवलोकन करना जरूरी है]

प्रश्न—यदि जिन प्रतिमा जिन सारखी है तो फिर पशु पक्षी उस पर बीट क्यों कर देते हैं ? उनको अर्पण किया हुआ नैवद्य आदि पदार्थ मूषिक, मार्जार क्यों ले जाते हैं ? मुसलमान लोगों ने अनकों मंदिर मूर्तियाँ कैसे तोड़ डाली ?

उत्तर—हमारे वीतराग की यही तो वीतरागता है कि उन्हें किसी से राग द्वेष या प्रतिबन्ध का अंश

मात्र नहीं है, चाहे उन्हें कोई पूजे या उनकी निन्दा या अपमान करे, चाहे कोई द्रव्य चढ़ावे या ले जावे, चाहे भक्ति करे या आशातना करे, वे तो राग द्वेष से परे हैं। उन्हें न किसी से विरोध है और न किसी से सौहार्द। वे समभावी हैं। देखिए, भगवान् महावीर के कानों में ग्वाले ने कील ठोकी। वैद्य ने कीलें निकाली परन्तु भगवान् दोनों पर ही समभावी रहे तो यही बात उनकी मूर्तियों में होना स्वाभाविक है। [जो रागी है सो रक्षा करना चाहता है, जो द्वेषी है उसको दुश्मन है और वह उसे शिक्षा करता है। चिंतामणि में राग द्वेष नहीं है, प्रसन्न या नाराज होना नहीं है तथापि उसको साधनेवाला मनोवांछितप्राप्त कर सकता है। उसी तरह वीतराग या मूर्ति में राग द्वेष नहीं है, प्रसन्न और नाराज होना नहीं है, तथापि भक्त जन उसे पूजकर अपना मनवांछित प्राप्त कर सकता है और द्वेषी आशातना करता हुआ भव भ्रमण बढ़ाता है।]

प्रश्न—फिर क्यों कहा जाता है कि ३२ सूत्र भगवान् के फरमाए हुए हैं।

उत्तर—ऐसा किसी सूत्र में लिखा है कि ३२ सूत्र ही भगवान् के फरमाये हुए हैं ? या भोलों को भ्रम में डालने का धोखा है, क्योंकि वह कहीं भी नहीं लिखा है कि जैनों में ३२ सूत्रों की ही मान्यता है। यदि ३२

सूत्रों को माना जाय तो भी उसमें से नन्दी सूत्र में ७२ सूत्रादि और १४००० प्रकीर्णक मानने का उल्लेख है। यदि ७२ सूत्रादि को नहीं मानते हो तो ३२ सूत्रों को भी नहीं माना जा सकता, फिर यह क्यों कहा जाता है कि हम ३२ सूत्र मानते हैं। स्थानांग में चार 'पन्नति' सूत्र कहे हैं, उसमें तीन को मानना और एक 'द्वीप सागर पन्नति' को नहीं मानना कहां का न्याय है? ३२ सूत्रों को भी आपके न्याय से मानना अन्याय है, क्योंकि ३२ सूत्रों में से ११ गणधर कृत हैं, पर २१ सूत्र तो स्थविरों के बनाए हुए हैं। स्थविर कृत तो आपको अमान्य है, अब श्यामाचार्य कृत प्रज्ञापना सूत्र को मानना और भद्रबाहुकृत निर्युक्ति को नहीं मानना यह अन्याय नहीं तो क्या है? यदि यह इरादा हो कि मूर्ति नहीं मानने के कारण ही ३२ सूत्रों को माना गया है, तो ३२ सूत्रों के मूल पाठ में भी मूर्ति विषयक बहुत उल्लेख हैं। फिर अगाध ज्ञान के समुद्र और सूत्रों को छोड़कर केवल ३२ सूत्रों के मानने से क्या अर्थ हुआ?

प्रश्न—क्या ३२ सूत्रों में मूर्ति पूजा करने का उल्लेख है?

उत्तर—हां, सुनिए—(१) श्री आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुत स्कन्ध, पन्द्रहवें अध्ययन में सम्यक्त्व की

प्रशस्त भावना में शत्रुंजय गिरनारादि तीर्थों की यात्रा करना लिखा है (भद्रबाहु स्वामिकृत निर्युक्ति)

(२) श्री सूत्रकृताग सूत्र दूसरा श्रुत स्कन्ध छठे अध्ययन में अभयकुमार ने आर्द्रकुमार के लिए जिन प्रतिमा भेजी जिसके दर्शन से उसको जाति स्मरण ज्ञान हुआ। –(शीलां कसूरि कृतटीका)

(३) श्री स्थानांग सूत्र चतुर्थ स्थानक में नन्दीश्वर द्वीप में ५२ मंदिरों का अधिकार है।

(४) श्री समवायांग सूत्र के सत्तरहवें समवाय में जंघाचारण विद्याचारण मुनियों के यात्रा-वर्णन का उल्लेख है।

(५) क–श्री भगवती सूत्र शतक ३ उ० १ के चमरेन्द्र के अधिकार में मूर्ति का शरणा कहा है।

ख–श्री भगवती सूत्र के शतक १०, उद्देशा ५ में प्रभु महावीर स्वामी गौतमस्वामी को कहते हैं कि असुरेन्द्र की चमरचचा राजधानी में सुधर्मा सभा में चैत्य-स्तंभ में गोलाकार डब्बों में जिनेश्वरों की बहुतसी दाढ़ाएं रही हुई हैं, जो असुरेन्द्र, चमरेन्द्र और दूसरे बहुत देवदेवियों

को चन्दनादि से पूजन करने योग्य हैं, नमस्कार करने योग्य हैं, पुष्पादि से पूजने योग्य हैं, वस्त्रादि से सत्कार करने योग्य हैं, तथा कल्याण और मंगलकारी जिन प्रतिमा के समान उपासना करने योग्य हैं। इन महामाननीय दाढ़ाओं की विद्यमानता के कारण ही (आशातना न हो इस हेतु) चमरेन्द्र वहां देव सम्बधी भोग भोगने में समर्थ नहीं है।

ग—श्री भगवती सूत्र क शतक २० उ० ६ में मुनिराज का जिनप्रतिमा को वन्दन करने का पाठ है।

(६) श्री ज्ञाता सूत्र अध्याय ८ में श्री अरिहंतों की भक्ति करने से तीर्थंकर गोत्र बन्धता है तथा अध्याय १६ में द्रौपदी महासती ने १७ भेद से पूजा की है।

(७) श्री उपासक दशांग सूत्र में आनंदाधिकार में जिन मूर्ति का उल्लेख है।

(८ ६) श्री अन्तगढ और अनुत्तरोववाई सूत्र में द्वारिकादि नगरियों के अधिकार में औपपातिक सूत्र के सदृश जैन मंदिरों का उल्लेख है।

(१०) प्रश्न व्याकरण सूत्र तीसरे सवरद्वार में जिन प्रतिमा की वैयावच (रचा) कर्म निर्जरा के हेतु करना बतलाया है।

(११) विपाक सूत्र में सुबाहु आदि ने जिन प्रतिमा पूजी है।

(१२) उपपातिक सूत्र में मुहल्ले २ जैन मंदिर का वर्णन है। तथा अंबड़ श्रावक ने प्रतिमा का वंदन करने की प्रतिज्ञा ली थी।

(१३) राजप्रश्नीय सूत्र में सूरियाभ देव ने सत्रह प्रकार से पूजा की है।

(१४) जीवाभिगम सूत्र में विजयदेव ने जिन प्रतिमाएँ पूजी हैं। वे जिन प्रतिमाएं जिनेश्वर के शरीर की ऊंचाई प्रमाण बतलाई हैं।

(१५) प्रज्ञापना सूत्र में 'ठवणा सच्च' कहा है।

(१६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में २६६ शाश्वत पर्वतों पर ६१ मंदिर लिखे हैं तथा जम्बूदेव ने प्रतिमा पूजी। आदीश्वर प्रभु के निर्वाण के बाद उनकी चिता पर इन्द्र महाराज ने रत्नों के स्थुम बनाये।

(१७) चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र में चन्द्र विमान में शाश्वत जिन प्रतिमाओं का वर्णन है।

(१८) सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र में सूर्य विमान में जिन प्रतिमाओं का वर्णन है।

(१९–२३) पांच निरयावलिका सूत्र में नगरादि अधिकार में जिन प्रतिमा।

(२४) व्यवहार सूत्र उद्देशा पहला आलोचनाधिकार में जिनप्रतिमा।

(२५) दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, राजगृह नगराधिकारे जिनप्रतिमा।

(२६) निशीथ सूत्र जिन प्रतिमा के सामने प्रायश्चित लेना कहा।

(२७) बृहत्कल्प सूत्र में नगरियों के अधिकार में जिन चैत्य है।

(२८) उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १० अष्टापद के मंदिर, अध्ययन १८ वां उदायन राजा की रानी प्रभावती के गृह मन्दिर का अधिकार, अध्ययन २९ में चैत्य वंदन का फल यावत मोक्ष बतलाया है।

(२९) दशवैकालिक सूत्र जिन प्रतिमा के दर्शन से शय्यंभव भट्ट को प्रतिबोध हुआ।

(३०) नदीसूत्र म विशाला नगरी में जिन चैत्य महाप्रभाविक कहा है।

(३१) अनुयोगद्वार सूत्र मे चार निक्षेप का अधिकार में स्थापना निक्षेप में अरिहंतों की मूर्ति अरिहंतों की स्थापना कही है।

(३२) आवश्यक सूत्र में अरिहंत चेइआणं मे वंदण व. पूअण व सक्कार व. सम्माण व. और लोगस्स में कित्तिय-वंदिय-महिया जिसमें वंदिय तो भाव पूजा मान लें किन्तु पूअण, सक्कार, सम्माण, महिया का अर्थ क्या होगा ? द्रव्यपूजन ही है, कौन निषेध कर सकता है ?

प्रश्न —जिन प्रतिमा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, नहीं है। प्रतिमा मे कोई गुणस्थान नहीं है। इसलिये पांचवें गुणस्थान वाला श्रावक और छट्ठ गुणस्थान वाला साधु उसे कैसे नमस्कार कर सकता है ?

उत्तर—जैसे प्रतिमा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र,और गुण स्थान नहीं हैं वैसे ही प्रभु के शरीर में या साधु के शरीर में भी गुणस्थान नहीं हैं। कारण कि गुणस्थान तो आत्म धर्म है। फिर प्रभु या साधु के शरीर को कैसे नमन किया जा

सके ? जैसे आत्मासे अविष्ठित शरीर व्यवहारसे भक्ति का पात्र है उसी प्रकार आरोपित आत्म भाव वाली प्रभु मूर्ति भी भक्तिपात्र है। श्री जिनप्रतिमा जिनका स्थापना निक्षेप है। स्थापना में साक्षात् गुणस्थान की जरूरत नहीं। परन्तु वन्दनीय की स्थापना में गुणस्थान का आरोप करके उसे वन्दन करने में कोई बाधा नहीं है। श्री जिनेश्वर भगवान के चारों निक्षेप वन्दनीय हैं। इसी लिए लोगस्स (नाम स्तव) आदि सूत्रों से पाँचवा छट्ठा गुणस्थान वाला साधु व श्रावक रोज प्रभु वन्दन करते हैं। यदि स्थापना में या नाम में कोई भी गुणस्थान नहीं तो फिर लोगस्स भी माना नहीं जा सकता। साधु के मृतक शरीर में कोई भी गुणस्थान नहीं है फिर उसे वन्दन कैसे किया करते हैं ? गुरु का पाट, पुस्तक, पादुका वगैरह में कौनसा गुणस्थान है ? फिर भी उनकी आशातना नहीं करते, बल्कि भक्ति दिखलाते हैं। तो फिर प्रभु की प्रतिमा की स्थापना में ही शंका क्यों ? यह सब मिथ्यात्वमोह और अज्ञानताका उदय ही समझना चाहिये। साधु को वन्दन करते समय साधु में छट्ठा गुणस्थान है इसका निर्णय कौनसे ज्ञान से किया जाता है ? मात्र व्यवहार से साधु को साधु मान कर वन्दन

करते हैं। वैसे ही आकार प्रभु का है और प्रतिमा में विधि पूर्वक भगवद्भाव आरोपित हैं। अतः उसे वन्दन नहीं करने में मिथ्यात्व हठ के सिवाय दूसरा कोई कारण नहीं है?

प्रश्न—जब तक तीर्थङ्कर भगवान् दीक्षा नहीं लेते वे चौथे गुणस्थान में होते हैं अतः पाँचवे गुणस्थान में रहे हुये श्रावक उनको नमस्कार कैसे कर सकते हैं?

उत्तर—गृहस्थावस्था में रहने वाले तीर्थङ्करों को गुणस्थान की दृष्टि से नहीं परन्तु द्रव्य निक्षेप की दृष्टि से वन्दन किया जाता है। युवराज राजा नहीं है, परन्तु भविष्य में राजा बनेगा, ऐसा मानकर लोग उसका राजा की तरह आदर सन्मान करते हैं। उसी प्रकार भगवान भी उसी देहमें तीर्थङ्कर होने वाले हैं। इसलिए द्रव्य निक्षेप से वन्दन करने योग्य हैं। दीक्षा नहीं लेने पर भी भावी का वर्तमान में उपचार कर वन्दन हो सकता है। अन्यथा मरीचि के भवमें भरतजी ने मरीचिको अन्तिम तीर्थङ्कर मानकर क्यों वन्दना की? जैसे भूत-कालका उपचार कर मृतकको साधु मानकर पूजते हैं वैसे ही भविष्यमें होने वाले गुणों का वर्तमान में उपचार कर पूजा करने में क्या दोष है? अगर गुण स्थान ही

वन्दन योग्य होने तो साधु को वन्दन कैसे किया जाय क्योंकि गुण स्थान तो आत्मधर्म है इसलिये साधु में गुणस्थान है या नहीं, इसका निर्णय छद्‌मस्थ नहीं कर सकता। उसका निर्णय तो ज्ञानी ही कर सकता है। तो फिर व्यवहार से ही साधु को गुणस्थान वाला मान कर वन्दन किया जाता है। व्यवहार से ही गृही जिनमें जिनपणाका आरोप करने बाद वंदन क्यों नहीं किया जाता। गुरु चरण, गुरु नाम, गुरु आसन वगैरह म गुण स्थान नहीं होते हुवे उनकी पूजा हो सकती है तो फिर जिन नाम और जिन स्थापना में ही शंका क्यों?

प्रश्न—चैत्य शब्द का अर्थ वृक्ष, वन तथा ज्ञान और साधु है परन्तु मन्दिर और मूर्ति नहीं?

उत्तर—चैत्य शब्दका अर्थ ज्ञान या साधु कहाँ किस जगह लिखा है। "चि" शब्दको लेकर जैसा चाहे वैसा शब्द निकाल कर साधु या ज्ञानको लगाना हाय तो मन्दिर या मूर्ति को क्यों नहीं लगाया जाय। वस्तुतः शब्दों का अर्थ दो तरह से होता है योग और रूढि, चैत्य शब्दका यौगिक अर्थ समाधिस्थान होता है और रूढ अर्थ मूर्ति यने मन्दिर है। "चैत्य जिनौक-स्तद्विंब" यह कोषकारों का वचन है। यौगिक अर्थ

रूढ़ अर्थ अधिक बलवान् होता है। भगवती सूत्र—की टीका तथा अभिधान चिन्तामणी कोषमें चैत्य का अर्थ जिनभवन और जिन बिंब किया हुआ है। वृक्ष, मन, ज्ञान, साधु, अर्थ तो कल्पित हैं। स्वच्छन्द कल्पना से निकाले हुए अर्थ हैं। इन अर्थों का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। और इन अर्थों के मानने में अनेक विरोध उपस्थित होते हैं। जैसे सम्यक्त्वधारी आनन्द दूसरों के ग्रहण किए अरिहन्तोंके चैत्यकी वन्दना नहीं करता।

"अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि वा चेइयाइं" उववाई सूत्र के इस पाठका अर्थ ज्ञानादि कैसे संगत हो सकता है? अरिहन्त का ज्ञान का अन्य तीर्थियों द्वारा कैसे ग्रहण किया जा सकता है? अन्य तीर्थियों द्वारा ग्रहण की हुई अरिहन्तकी प्रतिमाओंको वन्दन करना (अवड का) नहीं कल्पता यह बिलकुल सीधा और सरल अर्थ है। 'चेइयाइं' बहुवचन होने के कारण प्रतिमाएं अर्थ न कर के ज्ञान अर्थ करना व्याकरण के नियमोंकी नितान्त अवहेलना है तथा यदि चैत्य का अर्थ साधु करें तो श्री भगवती सूत्रके तीसरे शतक दूसरे उद्देश पत्र १७१ में कहा गया है कि "णऽण्णत्थ अरिहंत वा अरिहंत चेइ

याणि वा अणगारे वा भावियप्पणो निस्साए उड्ढ उप्प यन्ति, जाव सोहम्मो कप्पो"

"अरिहन्त, अरिहन्त के चैत्य और सुसाधु की शरण बिना असुर कुमार देव सौधर्म देवलोक तक ऊंचा नहीं जा सकता।"

यदि थोड़ा सा भी विचार करें तो बात स्पष्ट हो जाती है कि मुनि के लिए अनगार शब्द अलग है अत चैत्य का अर्थ साधु नहीं हो सकता परन्तु अरिहंत चेइ याणि का अर्थ अरिहंतकी प्रतिमा बिलकुल ठीक अर्थ बैठता है।

प्र०—साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान की पूजा भक्ति करनी चाहिए या प्रभु की मूर्ति की।

उत्तर—साक्षात् तीर्थङ्कर की सेवा तो उनके स्वय होते हुए भी नहीं होगी। क्योंकि वह तो अरूपी आत्मा है। उसका दर्शन पूजन कैसे होगा ? जो साक्षात् होता है वह तो उस काल में भी उनका शरीर ही है। शरीर कोई भगवान् नहीं है, फिर भी शरीर की पूजा और माना जाता है।

शरीर के अभाव में शरीर का आकार (मूर्ति) पूजन मानने में क्या बाधा है। तथा सिद्ध भगवान् क्या साक्षात् हैं। क्या साक्षात् हो सकते हैं? यदि नहीं तो उनका दर्शन पूजन स्तुति कैसे करोगे? क्या बिना देखे स्तुति करनी संगत है, जो वस्तु दिखाई नहीं पड़ती और कभी देखी भी नहीं है उसकी स्तुति यदि हृदय में ध्यान द्वारा हो सकती है तो हम आगे बढ़कर हृदय में विराजमान कर ध्यान करते हैं; और मूर्ति में विराजमान कर दर्शन पूजन आदि करते हैं।

क्या हृदय में भगवान् को विराजमान किया जाता है? यदि हां, तो, प्रश्न है कि—क्या हृदय चैतन्य रूप है या जड़ से बना जड़ है, यदि जड़ होते हुए भी हृदय में भगवान् रह सकते हैं, तो मूर्ति ने क्या दोष किया है कि उसमें विराजमान न हो सकें।

अन्य उदाहरण लीजिये। ज्योतिष के अभ्यासी भविष्य देखते हैं तो सूर्यादि ग्रहों को जो आकाश में गति कर रहे हैं, उन को कुन्डली में उतारते हैं। कुन्डली क्या है? आकाश का नकशा। उसमें ग्रह कोई चलते नहीं परन्तु लिखे जाते हैं। कुन्डली में उनको लाने की यह

ाव तो प्रसिद्ध ही है। उसी प्रकार निरञ्जन स्वरूप भग
ान् को इस मन्दिरजी में ध्यान करने के लिए विराज
ान करते हैं।

भगवान् या मूर्ति का बहुमान व्यवहार से है।

वास्तव में बहुमान तो भगवान् के गुणों का करना है
जिनको हमें अपने आत्मा में प्रगट करना है, गुण का बहु-
मान गुणी के बहुमान से होता है अतः भगवान पूज्य हैं।

निरालम्बन ध्यान की शक्ति वर्तमान काल के जीवों
में भरत क्षेत्र में नहीं है।

सातवें गुणस्थान से कम गुणस्थान वाले जीव
आलम्बन के बिना ध्यान कर ही नहीं सकते अतः उनके
लिये ज्ञानियों ने सालम्बन ध्यान फरमाया है।

प्र०—भगवान् ऋषभदेव आदि की काया तो बड़ी
थी। फिर प्रतिमाजी इतनी छोटी कैसे ?

उ०—समुद्र किनारे से ५ मील दूर एक बड़ा स्टीमर
हो और सूक्ष्म यन्त्र से उसे देखें, अथवा कोई कैमरे से
उसकी फोटू ले, तो उस फोटू में वह सारा समाविष्ट हो
जाता है, उसी प्रकार बड़ी ... है सिद्ध

स्वरूप को याद करने के लिये यहां प्रतिमाजी के छोटे आकार में उन प्रभुजी का सर्वेश्वरण समझा जाता है। भगवान की काया ५०० धनुष्य की है परन्तु उनका नाम केवल पांच अक्षर का, एक इतना छोटा कैसे माना जाय। यदि इन पांच अक्षर मात्र से 'ऋषभदेव' ऐसा ज्ञान हो सकता है और मान बढ़ता है तो मूर्ति छोटी होने से उससे क्या दोष आता है ?

क्या सब प्रकार के नक्शे बड़े २ देशों प्रदेशों का बोध नहीं कराते ?

मूर्ति तो पूजक के लिये है, जैसे पूजक उसकी पूजा कर सके वैसा ही नाप होना चाहिये।

प्रश्न—निराकार भगवान की उपासना ध्यान से हो सकती है तो मूर्तिपूजा क्यों मानी जाती है ?

उत्तर—मनुष्य का मन निराकार का ध्यान नहीं कर सकता। जो वस्तु इन्द्रियों से ग्रहण की जाती है उसी का विचार मन कर सकता है। उसके सिवाय अन्य वस्तुओं की मन में कल्पना ही नहीं आ सकती। किसी ने पूरनचद्र नामक मनुष्य का सिर्फ नाम सुना है, उसकी आकृति कभी नहीं देखी तो क्या नाम मात्र से व

पूरणचंद का ध्यान कर सकता है ? नहीं। इसी प्रकार जिसने भगवान को साक्षात् या मूर्त्ति द्वारा नहीं देखा, वह उनका ध्यान नहीं कर सकता। जब-जब ध्यान करना होगा, तब तब कोई वस्तु दृष्टि के सामने रखनी ही पड़ेगी। भगवान् को ज्योतिस्वरूप मानकर उनका ध्यान करने वाला, उस ज्योति को शुक्ल या श्याम आदि किसी वर्ण वाली मान कर ही उनका ध्यान कर सकता है। सिद्ध भगवन्तों में ऐसा कोई भी पौद्गलिक रूप नहीं है। उसे केवली के सिवाय दूसरा कोई नहीं जान सकता। इस प्रकार अतिशय ज्ञानी के सिवाय कोई निराकार सिद्ध का ध्यान नहीं कर सकता।

कहा जा सकता है कि हम मन में मानसिक मूर्त्ति की कल्पना करके सिद्ध भगवान का ध्यान करेंगे। उनसे पूछा जा सकता है कि तुम्हारी मानसिक मूर्त्ति का रंग कैसा है—लाल, काला, या सफेद ? अगर वह कहे कि उसका कोई रंग नहीं है तो जिसका कोई रूप रंग नहीं उसका ध्यान करना तुम्हारी शक्ति से बाहर है।

श्री तीर्थंकर देव समवसरण में पूर्वाभिमुख बैठते हैं। शेष तीन तरफ दाता भगवान की मूर्त्तियाँ स्थापित करते हैं। ऐसी श्री समवसरणप्रकरण, समवायांगसूत्र

टीका और तत्वार्थसूत्र टीका आदि प्राचीन ग्रंथ साक्षी देते हैं।

कई लोग कहते हैं कि भगवान् के अतिशय के कारण चारों तरफ चार मुख दीखते हैं, परन्तु यह बात असत्य है, क्योंकि किसी भी शास्त्र में ऐसा उल्लेख नहीं है। अतएव समवसरण की रचना से भी चित्त की एकाग्रता के लिए मूर्त्ति की आवश्यकता सिद्ध होती है। भगवान् की भव्य मूर्त्ति के दर्शन से उनके गुण स्मरण होने पर श्रद्धावान् मनुष्य को भगवान के मिलने पर कितना आनन्द होता है। वह मूर्त्ति को साक्षात् भगवान् समझकर भाव-युक्त भक्ति करता है। उस समय भक्ति करने वाले के मन के अध्यवसाय कितने निर्मल होते हैं और वह कैसे शुभ कर्म उपार्जन करता है, इसका सच्चा और पूरा ख्याल सज्जन के सिवाय दूसरे को नहीं आ सकता।

जो लोग भगवान् का मानसिक ध्यान करने की डींग मारते हैं, वे क्यों सैकड़ों-हजारों मील वाहनों में बैठ कर और पंचेन्द्रिय जीवों की भी हिंसा करके अपने गुरु को वन्दन करने जाते हैं? गुरु का मानसिक ध्यान तो घर बैठे भी हो सकता है। पर दुनियादारी के झगड़ों में फंसे लोगों को आलम्बन के बिना शुभ ध्यान की

प्राप्ति नहीं हो सकती । अस्थिर मन और चपल इन्द्रियों को काबू में रखना बच्चों का खेल नहीं है । सितार या तम्बूर का मधुर स्वर कान में पड़ा कि चपल मन तत्काल उधर दौड़ जाता है और ध्यान की बात हवा में उड़ जाती है। ऐसे चंचल मन वाले मनुष्यों के लिए प्रभुपूजा में लीन होना ही परम ध्यान है। अतएव अनेक उपाधियों वाले गृहस्थपन में जिन पूजा का अनादर करना लाभ के बदले हानि उठाने के बराबर है। गृहस्थ की विडम्बना वालों को मूर्ति के आलम्बन के बिना मानसिक ध्यान होना असम्भव है । श्री जिनपूजा के आदर में और मूर्ति द्वारा जिनेश्वर देव के गुण ग्राम वगैरह करने से चपल मन स्थिर होता है और स्थिर हुए मन में संसार की असारता आदि का सरलता से भान हो सकता है ।

जैन धर्म के मर्म को जानने वाले पूर्वाचार्यों ने प्रत्येक जीव को अपने अपने गुणस्थान के अनुसार क्रिया अङ्गीकार करने के लिए फरमाया है। वर्तमान में कोई भी जीव सातवें गुणस्थानक से ऊपर नहीं चढ़ सकता । सातवें गुणस्थान का समय अत्यल्प होता है, अतएव मुख्यरूप से छठे गुणस्थानक ... लीन जीवों की स्थिति है। यह ... होला

होने से इस गुणस्थानक तक के जीव निरालम्बन ध्यान करने में असमर्थ हैं। किन्तु जो छठे गुणस्थानक तक भी नहीं पहुंचे और संसार की झंझटों में रचेपचे हैं; वे निरालम्बन ध्यान की बात करें तो वह आडम्बर ही समझना चाहिए।

श्रावक चौथे पाँचवें गुणस्थानक में होता है, अतएव वह द्रव्य भाव दोनों प्रकार की पूजा का अधिकारी है, जब कि साधु छठे गुणस्थानक में होने से सिर्फ भावपूजा का अधिकारी है। जैसे व्यावहारिक शिक्षण में प्रथम कक्षा, फिर बारहखड़ी और फिर शास्त्र आदि, इस प्रकार अनुक्रम से अभ्यास कराया जाता है, उसी प्रकार अनुक्रम से ऊंचे गुणस्थानक में पहुँचने पर क्रियाओं में भी फेरफार हो जाता है। सीढ़ियां छोड़ कर जो एक दम ऊपर कूदने का प्रयास करता है, वह ऊपर चढ़ना तो दूर रहा, नीचे गिरता है और अपने हाथ पैर तोड़ लेता है।

प्रश्न—जड़ को चेतन की उपमा कैसे दी जा सकती है ?

उत्तर—वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। एक एक धर्म की अपेक्षा से एक ही वस्तु को अनन्त उपमाएं दी जा

सकती है। बालक जब लकड़ी पर सवारी करता है तब लकड़ी जड़ होने पर भी उसे घोड़े की उपमा दी जाती है। सम्यग्ज्ञान और धर्म आत्मिक वस्तुएं हैं, फिर भी उन्हें जड़ कल्पवृक्ष और चिन्तामणि की उपमा दी जाती है। इसी प्रकार परमात्मा की मूर्ति में परमात्मा का ज्ञान होता है, अतएव उस मूर्त्ति को भी परमात्मा कहा जा सकता है। पांच सौ रुपया की हुण्डी या नोट को भी लोग पांच सौ रुपया ही कहते हैं। वास्तविक रूप से देखा जाय तो रुपया चांदी का टुकड़ा है और नोट हुण्डी कागज-स्याही रूप है। किन्तु दोनों से एक ही प्रयोजन सिद्ध होने के कारण दोनों रुपया कहलाते हैं। इसी प्रकार परमात्मा की मूर्त्ति परमात्मा का बोध कराती है, अतएव उसे परमात्मा की उपमा दी जा सकती है।

प्रश्न—क्या मूर्त्ति हमेशा ही मानते रहें?

उत्तर—हाँ, जब तक कि आत्मा प्रमादी और भुल्लड़ है, तब तक उसे प्रभुगुणों का स्मरण आदि करने के लिए प्रभुमूर्त्ति माननी ही चाहिए। ज्ञानाभ्यास में चूक होने के भय से जिन्हें अचेतन पुस्तकों का आधार लेना पड़ता है, प्रभु का [illegible] स्मरण [illegible] भूल जाने के भय से जिन्हें माला [illegible] है चारित्र-

परिणाम में पतित हो जाने के भय से जिन्हें रजोहरण मुखवस्त्रिका का आधार लेना पड़ता है, सर्दी, गर्मी और वर्षा के भय से जिन्हें अचेतन वस्त्र और मकान आदि का आश्रय लेना पड़ता है तथा हिंसक पशु पक्षी या डाकू आदि के भय से जिन्हें शस्त्र आदि का शरण खोजना पड़ता है, उन्हें तब तक प्रभु के गुणों की स्मृति के लिए अचेतन मूर्ति का आलम्बन लिये बिना छुटकारा ही नहीं है। जो लोग दूसरे सब अचेतन आलम्बन स्वीकार करते हैं, किन्तु अचेतन का नाम लेकर परमात्मा की मूर्ति का निषेध करते हैं, समझना चाहिए कि वे परमात्मध्यान की कीमत सांसारिक पदार्थों जितनी भी नहीं समझते। ज्ञानाभ्यास में पुस्तक आदि के अवलम्बन बिना चूक जाने वाले आत्मा, मूर्ति आदि के अवलम्बन बिना परमात्मध्यान से नहीं चूकेंगे, ऐसा कैसे माना जा सकता है? परमात्मध्यान से चुकाने वाली विरोधी वस्तुओं के संग से जो मुक्त नहीं हैं, वे मूर्ति के आलम्बन बिना परमात्मध्यान से चूके बिना नहीं रह सकते। परन्तु परमात्मध्यान से चूक जाना कितनी बड़ी हानि है, यह सर्व साधारण जन नहीं जानते। शास्त्रों का कथन है कि दूसरे सांसारिक कार्यों से चूक जाने में उतनी हानि नहीं, जितनी परमात्मध्यान से चूक जाने में होती है।

आत्मा रूपी तिजोरी में एकत्र हुए शुभ ध्यान रूपी मूल्य धन को, प्रतिमा का आलम्बन रूपी ताला लगा र सुरक्षित न बनाया जाय तो प्रमाद रूपी चोर उसे ष्ट किए बिना नहीं रहते। शुभ ध्यान रूपी धन नष्ट आ कि आत्मा अनन्त संसार सागर में डूब जाता है। तएव जिन प्रतिमा का आलम्बन प्रमादी जीवों के लिए ानी से पहले पाल बांधने के समान अत्यन्त हित कारक । इसलिए संसार लुब्ध प्राणियों के लिए प्रतिमा आदि भ आलम्बन छोडना हितकर नहीं है। ऊंचा दर्जा प्राप्त ने पर, साँप जैसे कैंचली त्याग देता है उसी प्रकार ालम्बन अपने आप ही छूट जाते हैं।

प्रश्न—जड प्रतिमा मोक्षदायक कैसे हो सकती है?

उत्तर—शास्त्र, स्याही और कागज रूप होने से जड हैं, फिर भी वह मोक्ष देने वाले हैं, ऐसा सभी मानते हैं। तो फिर परमेश्वर की मूर्ति भी, उसकी आराधना करने वाले को मोक्ष का सुख क्यों नहीं देगी? शास्त्र, भगवान् के वचनों की प्रतिमा है और मूर्ति भगवान् के आकार की प्रतिमा है। जैसे वचनों की प्रतिमा से ज्ञान होता है, उसी प्रकार आकार की प्रतिमा से भी भव्य जीवों को ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता है।

प्रश्न—प्रतिमा अजीव है, उसकी पूजा कैसे की जाय ?

उत्तर—जो द्रव्य पूजनीक है, वह सजीव हो अथवा अजीव हो, पूजनीक ही है। दक्षिणावर्त्त शंख, कामकुम्भ, चिन्तामणि रत्न, चित्रावेल आदि पदार्थ जड हैं, फिर भी लोक में पूज्य ही हैं और जो उनकी पूजा करते हैं, उनका मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध होता ही है। जैसे यह अजीव वस्तुएँ अपने स्वभाव से पूजा करने वालों का हित करती हैं, उसी प्रकार श्री जिनप्रतिमा भी स्वभाव से ही पूजने वाले को शुभ फल देती है।

प्र०—छोटी-सी मूर्त्ति के आगे नैवेद्य के ढेर के ढेर लगा देना क्या अनुचित नहीं है ? क्या मूर्त्ति को खान की जरूरत पड़ती है ?

उ०—यह प्रश्न सर्वथा अनुचित है। नैवेद्य मूर्त्ति के खाने के लिए नहीं रक्खा जाता। पूजक पुरुष अपनी भक्ति के लिए उसे रखते हैं। पूज्य को उससे कोई प्रयोजन नहीं। मूर्त्ति खाती नहीं है, इसी कारण उसके सन्मुख यह भावना भाई जाती है कि—हे प्रभो ! आप निर्वेदी तथा सदा अनाहारी हो। मैं आपके समक्ष यह आहार रखता हूँ सो इस भाव से कि—मैं इस आहार

और नैवेद्य का सर्वथा त्याग करके सदा के लिए आपके समान अनाहारी (मुक्त) बन जाऊँ। और हे देवाधिदेव ! यह आहार अनेक पापारम्भ करके तैयार किया है, इसे मैं खाऊँगा तो उसके रसास्वादन से मुझमें राग-द्वेष की परिणति जागृत होगी। जितना आहार मैं आपको चढ़ाऊँगा, उतनी आहार सम्बन्धी राग द्वेष की परिणति कम होगी, भक्ति का लाभ मिलेगा और परम्परा से मुक्ति-फल का स्वाद चखने का सौभाग्य भी प्राप्त होगा।

प्रश्न—श्रावक के बारह व्रतों में से जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा किस व्रत में है ?

उत्तर—जिसके बिना समस्त व्रत निष्फल हैं, ऐसा सर्व शुभ क्रियाओं का मूल सम्यक्त्व है। उसकी करणी में श्रावक को गृहस्थावास में रहते हुए श्री जिनमूर्ति की द्रव्य भाव पूजा करना उचित है। देव श्री अरिहन्त देव हैं, गुरु जैनधर्म के शुद्ध गुरु और धर्म केवली प्रणीत सत्य धर्म है। यह तीनों वस्तुएं चारों निक्षेपों से सभी के लिए वन्दनीय और पूजनीय हैं। जो ऐसा मानता है वह सम्यग्दृष्टि और न माने वह मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार श्री जिनपूजा सम्यक्त्व की करणी है, और सम्यक्त्व

समस्त व्रतों का मूल है। सम्यक्त्व के अभाव में तमाम क्रियाए निष्फल हैं।

प्रश्न—तपस्या करने से तो अनेक लब्धिया उत्पन्न होती हैं, पर श्री जिनप्रतिमा की पूजन से किसी को लब्धि या ज्ञान का उत्पन्न होना सुना है?

उत्तर—श्री रायपसेणी, श्री भगवतीसूत्र, श्री जीवाभिगम, श्री ज्ञातासूत्र, श्री उववाई सूत्र, श्री आवश्यक सूत्रादि बहुत से सूत्रों में मूर्तिपूजा कल्याणकारी, मगल कारी यावत् मोक्ष देने वाली बतलाई गई है। सर्वोत्कृष्ट पुण्य तीर्थङ्कर गोत्र भी श्री जिनपूजा से बधता है। अन्य देवों की आराधना से भी बहुतों को धन, धान्य, पुत्र आदि लब्धिया प्राप्त करने के दृष्टान्त विद्यमान हैं। तो श्री वीतराग की मूर्ति के सेवन से मनोवाञ्छित लब्धि प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इस सम्बन्ध में नीचे लिखे दृष्टान्त हैं —

(१) अनार्य देश के निवासी श्री आर्द्रकुमार जिन प्रतिमा के दर्शन से जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त कर वैराग्य दशा में लीन हुए। इसका वर्णन बारह सौ वर्ष पूर्व लिखे हुए श्री सूयगडागसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छठे

अध्ययन में टीका में है। कोई कहते हैं—आर्द्रकुमार ने मूर्त्ती देख कर प्रतिबोध पाया, पर यह बात गप्प है। क्योंकि सूत्र में तो 'प्रथम जिनप्रतिमा' ऐसा स्पष्ट पाठ है। प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा देख कर प्रतिबोध पाया है।

(२) श्री महावीर स्वामी के चौथे पट्टधर तथा श्री दशवैकालिक सूत्र के रचयिता श्री शय्यंभव सूरि, श्री शान्तिनाथजी की प्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोध को प्राप्त हुए। ऐसा श्री कल्पसूत्र की स्थविरावली की टीका में कहा है।

(३) श्री द्वीपसागर पन्नत्ति तथा श्री हरिभद्रसूरि कृत आवश्यक की बड़ी टीका में लिखा है कि—श्री जिनप्रतिमा के आकार की मछलियां समुद्र में होती हैं। उन्हें देख कर अनेक भव्य जीव मछलियों को जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त होता है और वे बारह व्रत धारण करके सम्यक्त्व-सहित आठवें देवलोक में जाती हैं। इस प्रकार तिर्यंच जाति को भी, जिनप्रतिमा का आकार मात्र देखने से अलभ्य लाभ मिलता है, तो मनुष्य को वह लाभ मिलने में शंका ही क्या है?

(४) श्री ज्ञातासूत्र में तीर्थङ्कर गोत्र बाधने के स्थानक कहे हैं। उनके अनुसार रावण राजा ने अरिहन्त पद की आराधना श्री अष्टापद पर ङ्कर देव की मूर्ति द्वारा करके तीर्थंकर गोत्र रामायण में कहा है, जो रामायण श्री अग्यारह सौ वर्ष पहले हुए श्री चरित के आधार पर बनाई है और स्वीकार करते हैं।

(५) उसी ग्रन्थ में लिखा श्री शान्तिनाथ प्रभु की मूर्ति साधी और वह उसे सिद्ध हुई

(६) श्री पद्मचरित में श्री रामचन्द्रजी ने दरिया सामने तीन उपवास किये नाथ स्वामी की मूर्ति दरिया उतर गये।

(७) जरासंघ का प्रयोग करके । उस समय श्री

महाराज कृष्ण ने तीन उपवास किये। धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति प्रदान की, जिसके स्नानजल से 'जरा' भाग गई और सब सैनिक सचेत हो गये। यह मूर्ति श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ के नाम से अब भी गुजरात में विद्यमान है। (यह कथन श्री हरिवंशचरित में है)

(८) नागार्जुन योगी को कहीं भी स्वर्णसिद्धि न हुई। अन्त में श्री पादलिप्ताचार्य के कथन से श्री पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा के सामने श्रद्धापूर्वक एकाग्रता करते ही सिद्धि प्राप्त हो गई। वह योगी परम सम्यक्त्वधारी श्रावक बन गया और उसने गुरु पादलिप्ताचार्य का नाम कायम रखने के लिए श्री शत्रुंजय की तलहटी में पालीताना नगर बसाया। ऐसा श्री पादलिप्तचरित्र में वर्णन है।

(९) श्री पाल राजा तथा सात सौ कोढ़िया का अठारह प्रकार का कोढ़ उज्जैन नगर में श्री ऋषभदेव नाथ जी की मूर्ति के सामने श्री सिद्धचक्र यन्त्र के स्नान जल से दूर हुआ। उनकी काया कंचन समान हो गई। वह मूर्ति आज मेवाड़ में धुलेव ग्राम में विद्यमान है। (देखो श्रीपालचरित)

(४) श्री ज्ञातासूत्र में तीर्थङ्कर गोत्र बांधने के बीस स्थानक कहे हैं। उनके अनुसार रावण राजा ने प्रथम अरिहन्त पद की आराधना श्री अष्टापद पर स्थित तीर्थङ्कर देव की मूर्ति द्वारा करके तीर्थंकर गोत्र बांधा। ऐसा रामायण में कहा है, जो रामायण श्री हेमचन्द्राचार्य ने सत्तरह सौ वर्ष पहले हुए श्री जिनसेनाचार्य कृत पद्मचरित के आधार पर बनाई है और जिसे प्रायः सभी जैन स्वीकार करते हैं।

(५) उसी ग्रन्थ में लिखा है कि—रावण ने श्री शान्तिनाथ प्रभु की मूर्ति के सामने बहुरूपिणी विद्या साधी और वह उसे सिद्ध हुई।

(६) श्री पद्मचरित में कहा है—लङ्का जाते समय श्री रामचन्द्रजी ने दरिया उतरने के लिए जिनमूर्ति के सामने तीन उपवास किये। धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति दी, जिसके प्रभाव से वे सुखपूर्वक दरिया उतर गये।

(७) जरासंध राजा ने कृष्ण महाराज की फौज पर 'जरा' का प्रयोग करके समस्त सैनिकों को बेभान कर दिया। उस समय श्री नेमिनाथ स्वामी के आदेश से

महाराज कृष्ण ने तीन उपवास किये। धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति प्रदान की, जिसके स्नानजल से 'जरा' भाग गई और सब सैनिक स्वस्थ हो गये। यह मूर्त्ति श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ के नाम से अब भी गुजरात में विद्यमान है। (यह कथन श्री हरिवंशचरित में है)

(८) नागार्जुन योगी को कहीं भी स्वर्णसिद्धि न हुई। अन्त में श्री पादलिप्ताचार्य के कथन से श्री पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा के सामने श्रद्धापूर्वक एकाग्रता करते ही सिद्धि प्राप्त हो गई। वह योगी परम सम्यक्त्वधारी श्रावक बन गया और उसने गुरु पादलिप्ताचार्य का नाम कायम रखने के लिए श्री शत्रुंजय की तलहटी में पालीताना नगर बसाया। ऐसा श्री पादलिप्तचरित्र में वर्णन है।

(९) श्री पाल राजा तथा सात सौ कोढ़ियों का अठारह प्रकार का कोढ़ उज्जैन नगर में श्री केसरिया नाथ जी की मूर्त्ति के सामने श्री सिद्धचक्र यन्त्र के स्नान जल से दूर हुआ। उनकी काया कंचन समान हो गई। वह मूर्त्ति आज मेवाड़ में धुलेव ग्राम में विद्यमान है। (देखो श्रीपालचरित)

(१०) श्री अभयदेव सूरि का गलित कोढ श्री स्तमन पार्श्वनाथ जी की मूर्त्ति के स्नानजल से दूर हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने नौ अङ्गसूत्रों की टीकाए रचीं।

(११) श्री गौतम स्वामी की शङ्का निवारण करने के लिए भगवान ने श्री मुख से फर्माया है कि—जो पुरुष आत्मलब्धि से श्री अष्टापद तीर्थ पर चढ़ कर भरत राजा द्वारा निर्मापित जिन प्रतिमाओं का भावपूर्वक दर्शन करता है, वह इसी भव में मोक्ष जाता है। इस बात का निश्चय करने के लिए श्री गौतम स्वामी अष्टापद पर्वत पर चढ़े और यात्रा करके उसी भव में मोक्ष पधारे। ऐसा श्री आवश्यकनिर्युक्ति कहा है।

(१२) श्री भगवती सूत्र के मूल पाठ में कहा है—सच्चे भाव से श्री जिनमूर्त्ति का शरण लेने से कदापि हानि नहीं होती।

(१३) चौदह पूर्वधारी श्री भद्रबाहु स्वामी आवश्यकनिर्युक्ति में फर्माते हैं—

> अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
> संसारपयणुकरणे, दव्वथए कूवदिट्ठन्तो॥

भावार्थ—देशविरत श्रावक को पुष्प आदि से द्रव्य-पूजा अवश्य करनी चाहिए। यह द्रव्यपूजा कूप के दृष्टान्त से संसार को प्रतनु पतला करने वाली है।

(१४) टीकाकार भगवान् श्री हरिभद्र सूरि जी ने श्री आवश्यकवृत्ति में बतलाया है कि पूजा पुण्य का अनुबन्ध करने वाली और बहुनिर्जरा रूप फल देने वाली है।

(१५) श्री अभयदेव सूरि जी ने पूजा का फल बतलाते हुए कहा है—यद्यपि जिनपूजा में स्वरूप हिंसा दिखाई देती है, तथापि वह पूजा करने से गृहस्थ (कूप के दृष्टान्त से) शुद्ध होता है तथा परिणामों की निर्मलता होने से अनुक्रम से मुक्तिफल भी प्राप्त करता है।

(१६) गुणवर्मा राजा के सत्तरह पुत्रों में से प्रत्येक पुत्र ने एक एक प्रकार की पूजा की और वे उसी भव में मोक्ष गये। ऐसा सत्तरह प्रकार की पूजा के चरित्र में कहा है। सत्तरह प्रकारी पूजा का सविस्तार वर्णन श्री रायपसेणीसूत्र में है।

(१७) श्री जिनप्रतिमा की पूजा भक्ति करने से श्री शान्तिनाथ स्वामी के जीव ने तीर्थङ्कर गोत्र का बंध किया था ऐसा प्रथमानुयोग सूत्र का कथन है।

(१८) श्री भगवती सूत्र में कहा है कि—तीर्थङ्कर का नाम गोत्र सुनने से भी महान् पुण्य होता है। फिर प्रतिमा में तो उनका नाम और स्थापना दोनों हैं, अतएव उन दोनों की पूजा होने से विशेष पुण्य की प्राप्ति हो, इसमें क्या आश्चर्य है?

(१९) श्रेणिक राजा ने श्री जिनेश्वर देव की प्रतिमा की आराधना से तीर्थङ्कर-गोत्र बांधा, ऐसा योग शास्त्र में अधिकार है।

(२०) श्री महानिशीथ सूत्र में फर्माया है कि जिन-मन्दिर बनवाने वाला बारहवें देवलोक में जाता है।

इत्यादि सैंकड़ों मूल सूत्र तथा निर्युक्ति आदि के प्रमाणों से मूर्त्ति-पूजा उत्तम फल देने वाली सिद्ध होती है। बुद्धिमानों के लिए एक इशारा ही काफी होता है, फिर भी इतने दृष्टान्तों से भी अगर किसी के हृदय पर असर न हो तो इसमें कर्म की विचित्रता के सिवाय अन्य कोई कारण नहीं। मूल सूत्रों से बराबर मिलती हुई निर्युक्ति आदि पचांगी को न मानने से, श्री भगवती सूत्र, समवायांगसूत्र, नन्दीसूत्र और अनुयोग द्वार सूत्र आदि की आज्ञा का लोप होता है। इतना ही नहीं,

किन्तु श्री भद्रबाहु स्वामी जैसे चौदह पूर्वों के धनी, केवली नहीं पर केवली के समान, समुद्र सरीखी गम्भीर बुद्धि वाले आचार्यादि का घोर अपमान होता है, जिनके मुकाबिले में आज-कल के अल्पज्ञ पुरुषों की विद्वत्ता तथा उनके कपोलकल्पित प्रमाण किसी गिनती में नहीं।

प्रश्न—श्री जिनपूजा आदि क्रिया करना तो व्यवहार धर्म है। जो निश्चय को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें ये धर्म कार्य करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—जो लोग व्यवहार धर्म की अवहेलना करके निश्चय पर चलने का रास्ता ग्रहण करते हैं, वे दोनों से ही भ्रष्ट होते हैं। क्योंकि जिनमार्ग में शुद्ध व्यवहार को प्रधान पद दिया गया है, केवल निश्चय को नहीं। यह सिद्ध करने के लिए अनेक दृष्टान्त हैं। यथा—

(१) श्री भरत राजा को केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् वेष बदलना पड़ा। ऐसा न करते तो क्या केवल ज्ञान पीछा चला जाता? नहीं। परन्तु व्यवहार की रक्षा करने के लिए गृहस्थ का वेष उतारना पड़ा और मुनि का वेष धारण करना पड़ा।

(२) साधु बरसते मेह में अपने स्थान पर आ जाय, परन्तु असली स्त्री वाले स्थान में न ठहरे। और मार्ग में चलते समय अगर दूसरा मार्ग न मिले तो साधु हरित काय पर पैर रख कर चले किन्तु स्त्री के संघट्टा से बचे, क्योंकि यह लोकव्यवहार से विरुद्ध है।

(३) केवली महाराज दिन रात में बराबर देखते हैं, पर व्यवहार की रक्षा के लिए रात्रि में विहार नहीं करते।

(४) युगलियों में भाई बहिन पति पत्नी रूप बनने के बाद भोग करके और अन्त में मर कर देवलोक में जाते हैं। यही कार्य कोई आज करे तो व्यवहार मार्ग का लोप करना गिना जाय और महान् अनर्थ माना जाय। निश्चय में जीव हिंसा तो समान ही है।

(५) श्री महावीर भगवान् निश्चय में जानते थे कि—दो साधु मरेंगे, परन्तु व्यवहार की रक्षा के लिए उन्हें बोलने की मनाई की।

(६) श्रावक निरन्तर आरम्भ समारम्भ करता है और अनेक जीवों को त्रास देता है। फिर भी चोरी की

वस्तु लेना उसके लिए योग्य नहीं गिना गया। इसका कारण लोकव्यवहार का लोप न होने देना ही है।

(७) श्री वीर परमात्मा जानते थे, कि—'मेरे रोग की स्थिति पक चुकी है, इस कारण अब मिट जाएगा, परन्तु व्यवहार के लिए तथा यह प्रकट करने के लिए कि औषध लाने से दूसरे साधुओं को लाभ होगा, भगवान ने स्वयं औषध का सेवन किया।

(८) श्री मल्लीनाथ स्वामी अवेदी थे, परन्तु लोक-व्यवहार मान्य करने के लिए वे स्त्रियों की परिषद् में ही बैठते थे।

(९) बरसते मेह में गुरु को देहचिन्ता उपजी। उस समय एक चेले ने कहा—'मैं नहीं परठता, क्योंकि जीव-हिंसा का दोष लगता है।' तब दूसरे शिष्य ने परठा। इन दोनों में परठने वाला आराधक है, दूसरा नहीं।

(१०) मोहराग से बचने के लिए साधु को चौमासे के सिवाय, एक जगह, कारण बिना, एक मास से अधिक रहना नहीं कल्पता, किन्तु मोहराग बंधने वाला हो तो रहनेमि की तरह एक घड़ी

किन्तु एक मास से अधिक रहे तभी व्यवहार भग होता है, अन्यथा नहीं।

इनके अतिरिक्त भी व्यवहार मार्ग की मुख्यता के सैकड़ों दृष्टान्त मौजूद हैं।

श्रावक का शुद्ध व्यवहार रात्रिभोजनत्याग आदि का है। इस व्यवहार का जो लोप करते हैं, उनका निश्चय तत्काल लुप्त हो जाता है। और जो शुद्ध व्यवहार को अङ्गीकार करते हैं, वे मोक्ष पर्यन्त के फल प्राप्त करते हैं।

प्रश्न—आनन्द आदि श्रावकों ने जिनमन्दिर बनवाये, ऐसा पाठ किस सूत्र में है ?

उत्तर—आनन्द आदि श्रावकों ने जिनपूजा की, ऐसा अधिकार श्री उपासकदशाग सूत्र में है। उस सूत्र की हकीकत के विषय में श्री नन्दीसूत्र तथा श्री समवायांगसूत्र में कहा है —

"से किं त उवासगदसाओ ?, उवासगदसासु णं उवासगाणं णगराणि उज्जाणाणि चेइयाइं वणखंडारायाणो अम्मापियरो, समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइयइड्ढिविसेसा।"

भावार्थ—उस उपासकदशांगसूत्र में क्या है? उपासकदशांगसूत्र में श्रावकों के नगर, उद्यान, चैत्य (जिनमन्दिर), वनखण्ड, राजा, माता, पिता, समवसरणादिक, धर्माचार्य, धर्मकथा, परलोकादि तथा ऋद्धि-विशेष का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार कहे हुए श्री जिनमन्दिरों में आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों के मन्दिर भी आ गये। श्रावकों को जिनमन्दिर बनवाने की आज्ञा न होती तो उनका यहां वर्णन कैसे होता?

श्री ठाणांग सूत्र में जहां श्रावक शब्द का अर्थ किया है, वहां उसे (१) जिनप्रतिमा (२) जिनमन्दिर (३) शास्त्र (४) साधु (५) साध्वी (६) श्रावक (७) श्राविका—इन सात क्षेत्रों में धन खर्च करने का हुक्म फर्माया है। अन्य सूत्रों में भी यह सात क्षेत्र श्रावक के लिए सेवा करने योग्य बताये हैं। आनन्द वगैरह बारह व्रतधारी दृढ़ धर्मनिष्ठ श्रावक थे। उन्होंने श्री उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन में कहे अनुसार सम्यक्त्व के आठ आचारों का सेवन किया है। उनमें सात क्षेत्र भी आ जाते हैं, क्योंकि उन आचारों में साधर्मिवात्सल्य तथा प्रभावना नामक दो आचार भी

हैं। साधर्मिकवात्सल्य में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—यह चार क्षेत्र जानने चाहिए और प्रभावना में जिनबिम्ब, जिनमन्दिर तथा शास्त्र इन तीन की गणना होती है।

आनन्द कामदेव आदि श्रावकों के अतिरिक्त प्रदेशी-राजा ने भी जिनमन्दिर बनवाया था।

प्रश्न—तीर्थयात्रा करना किस शास्त्र में लिखा है? और उससे क्या लाभ है?

उत्तर—तीर्थ दो प्रकार के हैं—(१) जङ्गम तीर्थ अर्थात् चतुर्विध संघ और (२) स्थावर तीर्थ अर्थात् शत्रुंजय, गिरिनार, नन्दीश्वर, अष्टापद, आबू, समेतशिखर आदि, जिनकी यात्रा जंघाचारण और विद्याचारण मुनिवर भी करते हैं। ऐसा श्री भगवती सूत्र में फर्माया है। श्री गौतम स्वामी भी अष्टापद पर गये थे।

कर्मशत्रु को जीतने वाले शत्रुंजय पर्वत से अनन्त जीव मोक्ष गये हैं, ऐसा श्रीज्ञाता सूत्र में कहा है।

श्री आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नि० लि० तीर्थभूमियां बतलाई हैं :—

"जम्माभिसेय-निक्खमण-चरणनाणुप्पायनिव्वाणे ।
दियलोअभवणमंदरनंदीसरभोमनयरेसु ॥१॥   अट्ठावय-
उज्जिंते गयग्गपयए य धम्मचक्के य । पासरहावत्तनग
चमरुप्पायं च वन्दामि ।" ॥२॥

भावार्थ—तीर्थङ्कर देव की जन्माभिषेक की भूमि, दीक्षा लेने की भूमि, केवल ज्ञान उत्पन्न होने की भूमि, निर्वाणभूमि, देवलोक के सिद्धायतन, नन्दीश्वर द्वीप के सिद्धायतन, भवनपतियों के सिद्धायतन नन्दीश्वरद्वीप के सिद्धायतन, ज्योतिषी देव विमानों के सिद्धायतन, अष्टापद, गिरिनार, गजपद तीर्थ, धर्म चक्रतीर्थ पार्श्वनाथ स्वामी के सब तीर्थ तथा महावीर स्वामी जहा कायोत्सर्ग में रहे उस तीर्थ को मैं वन्दन करता हूँ ।

श्री भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है—तीर्थङ्कर देवों के जहां जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण हुआ, उस भूमि के स्पर्श से सम्यक्त्व दृढ़ होता है ।

श्री महावीर स्वामी के हस्तदीक्षित शिष्य, अवधि ज्ञान धारक श्री धर्मदास गणी उपदेशमाला में कहते हैं—श्रावक को जिनेन्द्र देव के पाँचों

की जगह यात्रा के निमित्त जाना चाहिए। स्थावर तीर्थ की यात्रा करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

महाकल्पसूत्र में तीर्थयात्रा के उत्तम फल का वर्णन है। यथा—जहां अपन रहते हैं, उस जगह भी मन्दिर होते हैं, पर तीर्थयात्रा में उनकी अपेक्षा विशेष लाभ है। क्योंकि घर पर व्यापार, रोजगार तथा सगे सम्बन्धियों की उपाधियां विघ्न डालती हैं। वहां दिन भर सङ्कल्प-विकल्प रहने से चित्त धर्मध्यान में स्थिर नहीं रह सकता। किन्तु घर छोड़ देने पर वे सब उपद्रव दूर हो जाते हैं। अन्य स्वधर्मी बन्धु साथ होने से, उनके साथ वार्त्तालाप करने से मन प्रफुल्लित होता है। शास्त्र का ज्ञान मिलता है। मार्ग में अनेक ग्राम-नगरों में उत्तम साधुजनों तथा विद्वान श्रावकों का संयोग मिलने से नवीन शिक्षा और बोध की प्राप्ति होती है। तीर्थ भूमि पर ऐसे अनेक सज्जनों की मुलाकात का लाभ होता है और उनके समीप रहने से बहुत लाभ होता है। घर पर ऐसे महात्मा और उत्तम पुरुषों का योग कदाचित् ही मिलता है और फुर्सत न मिलने के कारण विशेष लाभ नहीं हो सकता। तीर्थ भूमि पर तीर्थङ्कर, गणधर तथा अन्य उत्तमोत्तम पुरुषों का निर्वाण हुआ है, अतएव उनका स्मरण आता है और

उनके गुणानुवाद का उत्तम अवसर मिलता है। बुद्धि के निर्मल होने का वह एक खास कारण है। उन पूज्य पुरुषों के मार्ग पर चल कर गुणवान् बनने की अपने को इच्छा होती है। उस समय संसार असार-सा प्रतीत होता है और उसके प्रति उदासीनता होती है। आत्मध्यान करने की इच्छा होती है, परभाव में रमण करने का मन नहीं होता। आत्मिक गुणों को प्रकट करने के अनेक साधन मिलने से उनमें उद्यत बना जा सकता है। आत्म-शुद्धि के सभी अमूल्य अवसर वहां प्राप्त होते हैं। कितने ही ध्यानी पुरुष पहाड़ की गुफाओं में जाकर, एकान्त में बैठ कर आत्मा और जड़ के भेद का विचार करते हैं, धर्मध्यान में तल्लीन बनते हैं और शुक्लध्यान आदि ध्यान प्राप्त करने का अभ्यास करते हैं।

विशेष शुद्धि का दूसरा कारण तो यह है कि—उत्तम पुरुषों के शरीर के पुद्गलपरमाणु वहां फैले होते हैं। वे सब उत्तम होते हैं। क्षपक श्रेणी मांडने के लिए वज्रऋषभनाराच संहनन की आवश्यकता होती है। उसके बिना उत्तम ध्यान बन ही नहीं सकता। अतएव पुद्गल की सहायता भी चाहिए। जो पुरुष मुक्त होने वाले हैं, उन उत्तम पुरुषों के शरीर में, ध्यान को पुष्ट करने वाले

पुद्गल एकत्र हुए होते हैं। वे पुरुष जब निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं किन्तु वे पुद्गल उनकी निर्वाण भूमि में बिखरे रहते हैं। वहां प्रायः शुभ पुद्गलों का ही समूह होता है और वह अपने अन्दर प्रवेश करते हैं। यद्यपि उन्हें निर्वाण पाये बहुत समय हो गया है, तथापि वे सब पुद्गल नष्ट नहीं हो गये। ऐसी विशुद्ध भूमि में पुण्य-शाली स्त्री पुरुषों की बुद्धि उन निर्मल पुद्गलों का स्पर्श होने पर कितनी निर्मल होती होगी, यह बात अनुभव के बिना नहीं जानी जा सकती। कदाचित् किसी अभागी को वहां अच्छे के बदले खराब पुद्गलों का स्पर्श हो तो उसके कर्म का दोष समझना चाहिए। मुख्य रूप से तो वहां उत्तम पुद्गलों का ही सद्भाव है।

इस प्रकार घर की अपेक्षा तीर्थ भूमि की यात्रा में कई गुणा लाभ होता है तथा धर्मध्यान निर्विघ्न और सुगम बन जाता है।

प्रश्न—जिनपूजा म हिंसा होती है, अत वह त्याज्य क्यों नहीं है?

उत्तर—'जिनपूजा में हिंसा होती है, ऐसा कह कर जो उसका निषेध करते हैं, उनके लिए, उनके

मान्य बत्तीस सूत्रों के आधार पर निम्नलिखित हितशिक्षा है ।—

जिस-जिस क्रिया में हिंसा होती है, वह वह क्रिया यदि एकान्त रूप से त्याज्य ही है तो प्रतिक्रमण, सुपात्र दान, मुनि विहार, साधर्मिक वात्सल्य और दीक्षामहोत्सव आदि सभी धर्म कार्य त्याज्य ठहरेंगे। किन्तु आवश्यक-सूत्र, भगवतीसूत्र, आचारांगसूत्र और ज्ञातासूत्र आदि आगमों में प्रतिक्रमण, मुनि को आहारदान, साधुविहार और साधर्मिकवात्सल्य आदि धर्म कार्य करने का साधु तथा श्रावक, दोनों के लिए विधान किया गया है ?

उववाईसूत्र में राजा कोणिक द्वारा किये गये प्रभु को वन्दनमहोत्सव का विस्तृत वर्णन है।

भगवतीसूत्र में उदायन राजा द्वारा किये गये भगवान् के सामैयाओं का तथा तुङ्गिया नगरी के श्रावकों द्वारा कृत जिनपूजा का वर्णन है।

विपाकसूत्र में सुबाहुकुमार का वर्णन है। उसमें मिथ्यादृष्टि अवस्था में भी रहे हुए सुबाहुकुमार ने सुपात्र-दान से भी पुण्यबंध तथा परीत समार किया, ऐसा कहा है। अगर हिंसा के [illegible] ही होता तो

सुनाहुक्कार पुण्यबंध कैसे होता ? वह संसार परीत कैसे करता ? सच बात तो यह है कि जैसे दान संसार परीत करने का तथा पुण्यबंध का कारण है, उसी प्रकार जिन पूजा भी है।

जिनपूजा और सुपात्रदान आदि शुभ कार्यों में आरम्भ होता है, फिर भी वह सदारम्भ है और उसके योग से संसार के अन्य असदारम्भ छूटते हैं। यह बड़ा भारी लाभ है जो गृहस्थ घरबार, पैसा टका, कुटुम्ब-परिवार आदि के असदारम्भ निवृत्त नहीं हुए हैं, उनके लिए दान, देवपूजा, स्वामिवात्सल्य आदि सदारम्भ हित कारी हैं और करने योग्य हैं। श्री रायपसेणीसूत्र में श्री केशीस्वामी नामक गणधर भगवान् ने प्रदेशी राजा को असदारम्भ त्यागने का उपदेश दिया है, सदारम्भ त्यागने का नहीं कहा। सदारम्भ में दो गुण हैं—जब तक सदारम्भ होता है तब तक असदारम्भ से बचाव होता है और सदारम्भ में जिस द्रव्य का व्यय होता है उससे असदारम्भ का सेवन नहीं होता।

प्रश्न—जिनपूजा में होने वाली हिंसा क्या त्याज्य नहीं है ?

उत्तर—साधु और श्रावक के जितने भी उत्तम कार्य हैं, उनमें हिंसा होती ही है, परन्तु वह कर्मबंध का कारण नहीं होती। हिंसा तीन प्रकार की है—हेतु, स्वरूप और अनुबन्ध। संसार के कार्यों की सिद्धि के लिए होने वाली हिंसा, हेतुहिंसा है। धर्म कार्यों के लिए होनेवाली अनिवार्य हिंसा स्वरूपहिंसा कहलाती है और मिथ्यादृष्टि आत्मा के द्वारा होने वाली हिंसा अनुबन्ध हिंसा है। इनमें से स्वरूपहिंसा कर्मबन्ध का कारण नहीं है। धर्म कार्य करते समय प्राणी का घात करने की बुद्धि नहीं होती, बल्कि रक्षा करने की बुद्धि होती है, फिर भी अनिवार्य रूप से हिंसा हो जाती है। वह हिंसा स्वरूप-हिंसा कहलाती है। यह तेरहवें गुणस्थान तक टलती नहीं, मगर यह केवल ज्ञान आदि गुणों की प्राप्ति में बाधक नहीं मानी गई।

हां, हेतुहिंसा और अनुबन्धहिंसा त्याज्य है, क्योंकि वह संसार के कारणभूत क्लिष्टकर्मों के उपार्जन में हेतुभूत है। श्री आचारांग आदि सिद्धान्तों में अपवादरूप से हिंसादिक का सेवन करने वाले मुनिवरों को तथा समुद्र के जल में अप्काय आदि की विराधना होने पर भी शुभ-

ध्यान में आरूढ़ मुनियों को केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त हुआ, ऐसे उदाहरण मौजूद हैं।

संयम की विशुद्धि के लिए साधुविहार आदि की तरह जिनभक्ति आदि में भी होने वाली हिंसा कर्मबन्ध करने वाली नहीं मानी गई। एकान्त दया की निरपेक्ष प्रधानता लौकिक मार्ग है, किन्तु जिनाज्ञा की प्रधानता लोकोत्तर मार्ग है। जिन शासन स्याद्वादगर्भित है। सुविवेक के साथ आशय की विशेषता से हिंसा भी अहिंसा बन जाती है और विवेकहीन जन की अहिंसा भी हिंसा बन जाती है। आत्मभाव का हनन होना हिंसा है, जिससे आत्मभाव का हनन नहीं होता वह हिंसा नहीं है। दान, देवपूजा, प्रतिक्रमण, पौषध, साधुविहार और साधर्मिकवात्सल्य आदि आत्मभाव का घात न करने वाली क्रियाएं हैं, अतएव उनसे परम्परा से, वह मुक्ति प्राप्त होती है जहां सम्पूर्ण अहिंसा है। 'मुक्ति के साधनों का सेवन करने में जो अनिवार्य हिंसा हो जाती है, वह आत्मभाव का हनन करने वाली नहीं होती' ऐसी समझ जिन्हें नहीं है, वे धर्म बुद्धि से अधर्म का और अधर्मबुद्धि से धर्म का सेवन करते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। श्री जिनपूजा, दान आदि शुभ कार्यों की तरह

ही आत्मभाव का विकास करने वाली है, अतएव हिंसा का नाम लेकर उससे दूर भागना और दूसरों को भगाना भयानक अज्ञानता है।

प्रश्न—क्या ऐसा कोई प्रमाण है कि स्थापना स्थापित किये बिना कोई भी धर्मक्रिया नहीं हो सकती ?

उत्तर—जैनधर्म में, प्रत्येक धर्मक्रिया स्थापना के सन्मुख ही करनी चाहिए, इसके लिए अनेक सूत्रों के प्रमाण मौजूद हैं। जैसे देव के अभाव में देव की मूर्ति चाहिए, उसी प्रकार गुरु के अभाव में गुरु की स्थापना करनी चाहिए। दुखमा आरे रूपी रजनी में दिनकर के समान पूर्वधर आचार्य भगवान श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित विशेषावश्यक महाभाष्य में, गुरु के अभाव में गुरु की स्थापना करने के लिए इस प्रकार फरमाते हैं —

गुरुविरहंमि अ ठवणा, गुरूवएसोवदंसणत्थं च।
जिनविरहंमि अ जिणबिंब सेवणामंतणं सहलं ॥

श्री ठाणांगसूत्र में भी दस प्रकार की स्थापना बतलाई है। उसे स्थापित करके, गुरु महाराज के गुणों का धर्म-

क्रिया करनी उचित है । स्थापना में मुख्य स्थापना 'अक्ष' अर्थात् गोलाकार कौड़ा की की जाती है । वह तीन, पांच, सात या नौ आवर्त्तों वाला हो तो उत्तम गिना जाता है । उसका फल श्री भद्रबाहु स्वामी कृत 'स्थापना-कुलक' में विस्तार से वर्णित है । उपाध्याय श्री यशो-विजय जी महाराज ने भी 'स्थापनानी सज्झाय' बनाई है । उसमें भी उसका फल वैसा ही बताया है । यदि पूर्वोक्त अक्ष का योग न मिले तो ज्ञान दर्शन चरित्र के उपकरण— जैसे पुस्तक, नवकारवाली आदि की स्थापना करनी चाहिए, ऐसा विधान किया गया है ।

आवश्यक आदि धर्मक्रियाओं में स्थान-स्थान पर गुरु महाराज की आज्ञा मागनी पड़ती है, ऐसी स्थिति में अगर साक्षात गुरु न हों तो उनकी स्थापना बिना कैसे काम चल सकता है ?

श्रीसमवायाम सूत्र के बारहवें समवाय में गुरुवन्दना के पच्चीस बोल पूरा करने का विधान है । उसका पाठ इस प्रकार है —

" दुवालसावत्ते किचिकम्मे पएणत्ते, तंजहा—
दुओणयं जहाजायं, किचिकम्म बारसावयं ।
चउसिरं तिगुत्तं, दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥

अर्थात्—वन्दन क्रिया में बारह आवर्त्त फरमाये हैं। व इस प्रकार हैं—दो अवनत अर्थात् दो बार मस्तक झुकाना और एक यथाजात अर्थात् जन्म तथा दीक्षा ग्रहण करने के समय की मुद्रा धारण करना। बारह आवर्त्त प्रथम के प्रवेश में हैं तथा दूसरे छह —

अहोकाय कायसफास

इत्यादि पाठ से करने चाहिए। चार सिर अर्थात् प्रथम तथा दूसरे प्रवेश में दो दो बार मस्तक झुकाना, तीन गुप्त अर्थात् मन वचन काय से वन्दना के सिवाय अन्य क्रिया न करना, दो प्रवेश अर्थात् गुरु महाराज की हद में प्रवेश करना और एक निष्क्रमण अर्थात् गुरु महाराज की हद में प्रवेश करने रूप अवग्रह से बाहर निकलना। इस प्रकार कुल पच्चीस बोल हुए। इनमें से गुरु महाराज के प्रवेश में दो बार प्रवेश करना और एक बार निकलना, यह बात प्रत्यक्ष गुरु के अभाव में, उनकी स्थापना के बिना किस प्रकार शक्य हो सकती है?

इसी वन्दना के पाठ में गुरु महाराज की आज्ञा माग कर अन्दर प्रवेश करने का स्पष्ट फर्मान है। यथा—

'इच्छामि खमासमणो वंदिउ जावणिज्जाए निसीहि-आए अणुजाणह मे मिउग्गह निसीहि। अहो काय काय सफास खमणिज्जो मे किलामो।'—इत्यादि।

अर्थात्—मैं इच्छा करता हूं कि—हे क्षमाश्रमण! वन्दन करने के लिए, पाप व्यापार से रहित शरीर की शक्ति द्वारा, मित अवग्रह अर्थात् साढे तीन हाथ प्रमाण क्षेत्र में प्रवेश करने की मुझे आज्ञा दीजिए। उस समय गुरु की आज्ञा लेकर शिष्य 'निसीहि' अर्थात् 'गुरुवन्दना सिवाय दूसरी क्रिया का निषेध' कह कर अवग्रह में प्रवेश करे और दोनों हाथ ललाट से लगाकर गुरु के चरण स्पर्श करता हुआ—

अहोकाय कायसंफास

इत्यादि पाठ बोले। इसका अर्थ यह है—'भगवन्! आपकी अधोकाया अर्थात् चरण कमल को मेरी उत्तम काया अर्थात् मस्तक द्वारा स्पर्श करते आपको कुछ खेद उपजाया हो तो उसके लिए क्षमा करें।'

इस प्रकार अनेक स्थानों पर गुरु महाराज की माग कर क्रिया करनी पडती हैं। तो गुरु के गुरु की स्थापना के बिना काम कैसे चले,

कदाचित् कहो कि—'गुरु अवस्था की आकृति मन में कल्पित करके आज्ञा आदि माग लेंगे' तो बलात् स्थापना निक्षेप को स्वीकार करना ही पड़ा। इसके सिवाय काल करके अन्य गति में चले गये गुरुओं को याद करके उनके जो गुणग्राम किये जाते हैं, वे किस निक्षेप का आश्रय लेकर समझना चाहिए? गुरुपन का भावनिक्षेप तो उस समय है नहीं। फिर भी यदि गुरुपन की पूर्व अवस्था को मन में कल्पित करके गुणग्राम आदि किए जाते हैं, ऐसा कहा जाय तो स्थापनानिक्षेप और द्रव्यनिक्षेप—दोनों मानने योग्य हो जाते हैं।

प्रश्न—'सिद्धायतन' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर—'सिद्धायतन' गुणनिष्पन्न नाम है। उसका अर्थ होता है जिनमन्दिर। 'सिद्ध' अर्थात् सिद्ध भगवान् की प्रतिमा और आयतन अर्थात् घर, आशय है जिनघर या जिनमन्दिर। वैताढ्य पर्वत, चुल्ल हिमवन्त पर्वत, मेरु पर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, नन्दीश्वर द्वीप, रुचक द्वीप आदि पर्वतों तथा द्वीपों में असंख्य शाश्वती जिनमूर्तियों वाले सिद्धायतन विद्यमान हैं, ऐसा श्री जीवाभिगम तथा श्री भगवती आदि सूत्रों में स्पष्ट विधान है, जिन्हें सब जैन मानते हैं।

प्रश्न—द्रौपदी की पूजा के लिए सूर्याभ देव की भलापण की, तो किसी श्रावक की क्यों नहीं की ?

उत्तर—शास्त्रकार श्री देवर्धिगणि क्षमाश्रमण महाराज ने रायपसेणी सूत्र में सूर्याभ देव के अधिकार में जिनप्रतिमा की पूजा का सविस्तर वर्णन किया है। उसी की भलामण अन्यान्य स्थलों पर की गई है, क्योंकि एक ही बात का जगह-जगह विवेचन किया जाय तो शास्त्र बढ़ जाता है। इसी से शास्त्रकार एक सूत्र में दूसरे सूत्र की भलापण कर देते हैं। श्री महावीर भगवान् तथा गणधर भगवन्तों ने तो सब जगह पूरा वर्णन किया था, परन्तु शास्त्रकार सूत्र को संक्षिप्त करने के अभिप्राय से सूत्रों की परस्पर भलामण कर देते हैं।

दूसरा कारण यह है कि—कुछ लोग यह तो मानते हैं कि देवता शाश्वती जिनप्रतिमा की पूजा करते हैं, परन्तु वे अशाश्वती (कृत्रिम) मूर्त्ति मानने का निषेध करते हैं। उनके अन्तर्नेत्र खोलने के लिए सूर्याभ देव की उपमा दी है। यथा—श्री रायपसेणी सूत्र में कहे अनुसार देव गण निरन्तर शाश्वती मूर्त्तियां पूज कर अपना हित, कल्याण तथा अनुक्रम से मोक्ष की साधना करते हैं, उसी प्रकार श्रावक और श्राविकाएँ भी यहां स्थित जिनप्रतिमा

का पूजन करके उन्हीं देवों की भाँति, कल्याण साध कर संसार समुद्र का पार पा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त शाश्वती और अशाश्वती—दोनों प्रकार की मूर्त्ति की पूजा से एक-से फल की प्राप्ति होती है, यह प्रकट करने का शास्त्रकार का आशय है।

शाश्वती प्रतिमा का आदर करना और अशाश्वती प्रतिमा का निरादर करना महामूर्खता है। दोनों तरह की प्रतिमाएं एक समान सम्माननीय हैं, क्योंकि वे एक ही देव की हैं, अलग अलग देव की नहीं।

एक कारण यह भी है कि देवताओं की शक्ति अचिन्त्य होती है अतएव जितने भाव के साथ वे पूजा करते हैं, उतने भाव से आप मनुष्य नहीं कर सकता। फिर भी द्रौपदी ने मनुष्य और उसमें भी स्त्री होते हुए भी सूर्याभ देव के समान महान् ठाट बाट से जिन पूजा की, यह बतलाने के लिए भी सूर्याभ देव की सलामण की है। इसके अतिरिक्त यह आशय भी है कि जैसे सूर्याभ देव निश्चित रूप से शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, उसी प्रकार द्रौपदी भी परम श्राविका है।

इस सलामण से यह भी प्रकट किया गया है कि जिस विधि से शाश्वती प्रतिमा

से अशाश्वती प्रतिमाओं की पूजा करने से भी अपने-अपने भाव के अनुसार समान फल प्राप्त किया जा सकता है।

अन्य किसी श्रावक की उपमा न देने का कारण यह भी जान पड़ता है कि—आनन्द आदि श्रावकों के वर्णन में शास्त्रकार ने पूजा विधि का, सूर्याभ देव के अधिकार के समान, सम्पूर्ण विवेचन नहीं किया है, अतएव उनकी भलामण कैसे दी जाती ? जिस जगह विशेष खुलासा हो उसी जगह की भलामण दी जा सकती है।

प्रश्न—श्री तीर्थङ्कर देव के समवसरण में देवता फूलों की वर्षा करते हैं। वे सचित्त होते हैं। साधु उनका संघट्टा किस प्रकार कर सकते हैं ?

उत्तर—श्री समवायांग तथा रायपसेणी सूत्र में साफ कहा है कि ये फूल 'जलज थलज' होते हैं। जल में उत्पन्न हुए कमल आदि के तथा थल में उत्पन्न होने वाले जाई, जुही, केवड़ा, चम्पा, गुलाब आदि में—यह पांच वर्ण के फूल होते हैं। उनके डन्ठल नीचे और मुख ऊपर होते हैं और जानु प्रमाण फूलों की वर्षा होती है, ऐसा

उल्लेख है। इस उल्लेख से वे फूल अचित्त नहीं, पर सचित्त सिद्ध होते हैं।

अब प्रश्न यह है कि साधु सचित्त पुष्पों का सघट्टा कैसे करते हैं? इसका उत्तर यह है कि जानु प्रमाण बिछे हुए फूलों को साधु या अन्य मनुष्य से जरा भी बाधा न पहुंच, ऐसा भगवान् का अतिशय है। जिनके प्रभाव से सिंह और हिरण, बिल्ली और चूहा, बाघ और बकरी आदि जानवर अपने अपने जन्मजात वैर को भूल कर एकत्र स्थित होकर धर्म-देशना सुनते हैं, उनके प्रभाव से फूलों के जीवों को अगर बाधा न पहुंचे तो इसमें क्या आश्चर्य है?

श्री स्थूलभद्रजी के चरित्र में कहा है—कोश्या गणिका ने सरसों के ढेर पर सुई खड़ी की। उस पर गुलाब का फूल खड़ा किया और फिर उसपर नृत्य किया, फिर भी सुई को या फूल को तनिक भी बाधा न पहुंची। तो अत्यन्त अचिन्तनीय और अनुपम प्रभावशाली श्री तीर्थङ्कर देव के अतिशय से फूलों को बाधा न पहुंचे, उलटे वे प्रफुल्लित हों, यह कोई अनहोनी बात नहीं है।

जिनके अतिशय से कोटानुकोटि जीव समवसरण

नहीं, उन प्रभु का प्रभाव साधारण मनुष्यों की कल्पना में न आवे, इसमें क्या नूतनता है ?

अकथनीय शक्ति के धारक देवता जल थल में उपने फूलों को लाकर, उनके बादलों की विक्रिया करके, ऐसी खूबी के साथ बरसाते हैं कि मनुष्य के पैरों से उन्हें पीड़ा नहीं होती। फिर समवसरण में मण्डप की दीवाल के पास, चारों ओर फूलों की पंक्ति ऐसी बनाते हैं कि जिससे आने-जाने वाले साधु के पैर के नीचे फूल आते ही नहीं। जैसे बगीचे में चारों ओर सचित्त वनस्पति होती है, मगर मध्य में आने जाने के लिए सड़कें एवं खाली जमीन होती है और लोग वहां बैठते हैं। इसी प्रकार देवता फूलों की वर्षा करते हों तो इसमें असम्भव क्या है ?



मूत्रों में मूर्तिपूजा का कुछ उल्लेख

श्री रायपसेणीय सूत्र का पाठ—

"तए ण तस्स सूरियाभस्स देवस्स पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभाव गयस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था–किं मे पुव्विं करणिज्जं ? किं मे पच्छा करणिज्जं ? किं मे पुव्विं सेयं ?, किं मे पच्छा सेयं ? किं मे पुव्विंपि पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ" ?

"तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणिय-परिसोववण्णगा देवा सूरियाभस्स देवस्स इमेयारूवं अज्झत्थियं जाव संकप्पं समुप्पण्णं समभिजाणित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छन्ति उवागच्छित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेन्ति, वद्धावित्ता एवं वयासी–'एवं खलु देवाणुप्पियाणं सूरियाभे विमाणे सिद्धायतणे जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाणमेत्ताणं अट्ठ-सयं सण्णिक्खित्तं चिट्ठइ। सभाए णं सुहम्माए णं माणवए चेइयखंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहूओ

जिणमकहाओ मणिणविखत्ताओ चिट्ठन्ति। ताओ ण देवाणुप्पियाणं अन्नेसिं च बहूण वेमाणियाण देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जओ णममणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ। त एय णं देवाणुप्पियाण पुव्विं करणिज्जं, एय ण देवाणुप्पियाण पच्छा करणिज्जं, एय ण देवाणुप्पियाण पुव्विं सेय, एय ण देवाणुप्पियाण पच्छा सेय, एय ण देवाणुप्पियाण पुव्विं पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ।"

भावार्थ—तब वह सूर्याभदेव पांच प्रकार की पर्याप्ति के पर्याप्तभाव को प्राप्त होता है। वह सूर्याभदेव मन में इस प्रकार का विचार करता है कि—"मुझे पहले क्या करना चाहिये और पीछे क्या करना चाहिये ? मुझे प्रथम कल्याणकारी क्या है और पीछे कल्याणकारी क्या है ? पहले और पीछे कल्याणकारी क्या है ? तथा आत्मा के हित के लिए, सुख क लिए, कल्याण के लिए, मोक्ष के और परम्परा शुभानुबन्ध के लिए क्या है ? उस समय सूर्याभदेव की सामानिक सभा के अन्य देवता सूर्याभदेव के उपरोक्त विचारों को जान कर जहां सूर्याभदेव हैं वहां

आते हैं। आकर सूर्याभदेव को जय विजय आदि शब्दों द्वारा बधाई देते हैं। बधाई देने के पश्चात् वे ऐसा कहते हैं, "हे देवानुप्रिय ! अपने सूर्याभ विमान में सिद्धायतन (जिन मन्दिर) है। उस मन्दिर में एक-सौ आठ जिन-प्रतिमाएं हैं, वे जिन राज की अवगाहना प्रमाण ऊँची हैं। तथा सुधर्मा सभा में माणवक नामक चैत्य स्तम्भ है। उस स्तम्भ में वज्रमय गोल डब्बे हैं उनमें बहुत जिनेश्वर भगवान् की दाढ़ाएं आदि अस्थियां रही हुई हैं। हे देवानुप्रिय ! ये जिन-प्रतिमा और दाढ़ाएं आपको और दूसरे भी वैमानिक देव देवियों को अर्चन करने योग्य, वन्दन करने योग्य, नमस्कार करने योग्य, पूजन करने योग्य और सन्मान करने योग्य हैं। तथा कल्याणकारी, मङ्गलकारी हैं। अतः आपको प्रथम करने योग्य यही है और पीछे करने योग्य भी यही है। तथा यही पहले कल्याण कारी है और पीछे भी कल्याणकारी है। अपने को यह पहले और पीछे हित के लिए, सुख के लिए, क्षेम के लिए, मोक्ष के लिए और परम्परा से शुभानुबन्ध के लिए होगा।"

जीवाभिगम सूत्र १४२

"तते णं से विजयदेवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव अण्णेहि य बहुहिं वाणमंतरेहिं देवेहि य देवीहि य

जिणसकहाओ सणिणक्खित्ताओ चिट्ठन्ति। ताओ ण देवाणुप्पियाण अन्नेसिं च बहूण वेमाणियाण देवाण य देवीणं य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ णमंसणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ। त एय ण देवाणुप्पियाण पुव्विं करणिज्ज, एय ण देवाणुप्पियाण पच्छा करणिज्ज, एय णं देवाणुप्पियाण पुव्विं सेय, एय ण देवाणुप्पियाण पच्छा सेय, एय ण देवाणुप्पियाण पुव्विं पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ।"

भावार्थ—तब वह सूर्याभदेव पांच प्रकार की पर्याप्ति के पर्याप्तभाव को प्राप्त होता है। वह सूर्याभदेव मन में इस प्रकार का विचार करता है कि—"मुझे पहले क्या करना चाहिये और पीछे क्या करना चाहिये? मुझे प्रथम कल्याणकारी क्या है और पीछे कल्याणकारी क्या है? पहले और पीछे कल्याणकारी क्या है? तथा आत्मा के हित के लिए, सुख के लिए, कल्याण के लिए, मोक्ष के और परम्परा शुभानुबन्ध के लिए क्या है? उस समय सूर्याभदेव की सामानिक सभा के अन्य देवता सूर्याभदेव के उपरोक्त विचारों को जान कर जहां सूर्याभदेव है वहां

आते हैं। आकर सूर्याभदेव को जय विजय आदि शब्दों द्वारा बधाई देते हैं। बधाई देने के पश्चात् वे ऐसा कहते हैं, "हे देवानुप्रिय ! आपके सूर्याभ विमान में सिद्धायतन (जिन मन्दिर) है। उस मन्दिर में एक-सौ आठ जिन-प्रतिमाएं हैं, वे जिन राज की अवगाहना प्रमाण ऊँची हैं। तथा सुधर्मा सभा में माणवक नामक चैत्य स्तम्भ है। उस स्तम्भ में वज्रमय गोल डब्बे हैं उनमें बहुत जिनेश्वर भगवान् की दाढ़ाएं आदि अस्थियां रही हुई हैं। हे देवानुप्रिय ! वे जिन प्रतिमा और दाढ़ाएं आपको और दूसरे भी वैमानिक देव देवियों को अर्चन करने योग्य, वन्दन करने योग्य, नमस्कार करने योग्य, पूजन करने योग्य और सन्मान करने योग्य हैं। तथा कल्याणकारी, मङ्गलकारी हैं। अतः आपको प्रथम करने योग्य यही है और पीछे करने योग्य भी यही है। तथा यही पहले कल्याणकारी है और पीछे भी कल्याणकारी है। आपके को यह पहले और पीछे हित के लिए, सुख के लिए, क्षेम के लिए, मोक्ष के लिए और परम्परा से शुभानुबन्ध के लिए होगा।"

जीवाभिगम सूत्र १४२

"तते ण से विजयदेवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव अण्णेहि य बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहि य

सद्धिं मपरिवुडे सव्विड्ढीए सव्वजुत्तीए जाव णिग्घो सणाइयरवेणं जेणेव सिद्धाययणे तेणेव उवा गच्छति २ त्ता सिद्धायतणं अणुपयाहिणीकरेमाणे २ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छदए तेणेव उवागच्छिति २ त्ता आलोए जिणपडिमाणं पणाम करेति, करेत्ति २ त्ता लोमहत्थगं गेण्हति, लोमहत्थगं गेण्हित्ता जिनपडिमाओ लोमहत्थएणं पमज्जति २ त्ता सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणति २ त्ता दिव्वाए सुरभिगंधकासाइए गाताइं लूहेति २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाचाणि अणुलिंपइ अणुलिंपित्ता जिण पडिमाणं अहयाइंसेताइं दिव्वाइं देवदूसजुलाइं णियंसेइ नियंसेत्ता अग्गेहिं वरेहिं य गंधेहिं य मल्लेहिय अच्चेति २ त्ता पुप्फारुहणं गंधारुहणं मल्लारुहणं वण्णारुहणं चुणारुहणं आभरणारुहणं करेति ।

भावार्थ—बाद वह विजय देव चार हजार सामा निक देवताओं के साथ अन्य बहुत वाणव्यन्तर देवों से घिरा हुआ सब ऋद्धि के साथ सब कान्ति से सभी वाजित्रों के साथ जहां सिद्धायतन है वहां आया । आकर सिद्धायतन की तीन प्रदक्षिणा देता हुआ पूर्व के द्वार से प्रवेश किया और जहां देवच्छन्दा है वहां आया ।

जिन प्रतिमा को देखते ही नमस्कार करता है मोर पीछी लेता है। मोर पीछी लेकर जिन प्रतिमाओं को प्रमार्जता है। प्रमार्जन करके सुगन्ध वाले जल से स्नान कराता है, स्नान कराके अच्छे व सुगन्धित वस्त्र से भगवान् के शरीर को पोंछता है। पोंछ कर शरीर पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन करता है। विलेपन करके उपयोग नहीं किये हुए और अखण्ड श्वेत ऐसे देव दूष्य वस्त्र की जोड़ी भगवान् के शरीर पर ओढ़ाता है और अच्छी सुगन्ध वाली मुख्य मालाओं से भगवान् की पूजा करता है। इत्यादि

श्री ज्ञातासूत्र मानो पाठ

"तए णं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, मज्जणघर अणुप्पविसइ, एहाया कयब लिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं परिहिया मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जिणघर अणुप्पविसइ, अणुप्पविसइत्ता आलोए जिणपडिमाण पणाम करेइ, लोम-हत्थय परामुसइ, एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चइ तहेव भाणिअव्वं जाव धूवं डहइ, डहइत्ता वाम जाणु अन्चेइ, [illegible] लसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाण [illegible] निवे[illegible] ।

ईसिं पच्चुण्णमइ २ करयल जाव कट्टु एव वयासी—नमोत्थु ण अरिहंताण भगवंताण जाव संपत्ताणं, वंदइ णमंसइ २ जिणघराओ पडिणिक्खमइ।"

भावार्थ—तत्पश्चात् द्रौपदी राजकन्या जहाँ मज्जन स्नान गृह है वहाँ आई। मज्जन घर में प्रवेश किया (स्नान कर वलि कर्म अर्थात् घर देरासर की पूजा की, कौतुक मङ्गल किया,) मन की शुद्धि के लिए वह राजवर कन्या द्रौपदी शुद्ध, दोष रहित, पूजन योग्य, बड़े जिन मन्दिर में जाने योग्य उत्तम वस्त्र पहिन कर मज्जन घर से बाहिर निकली। जहां जिन-मन्दिर है वहा आयी (आकर जिन मन्दिर में प्रवेश किया) करके मोर पीच्छी से प्रमार्जन किया। बाकी सब विधि जैसे सूर्याभदेव ने प्रतिमा पूजन किया, उसी प्रकार सत्तरह भेदी पूजा की (धूप धुखाया) धूप करके बाया घुटना ऊँचा रख दाया भूमि पर स्थापन किया, तीन बार मस्तक भूमि पर नमाया, फिर कुछ झुक कर हाथ जोड़ कर, दस नख मिला कर, मस्तक पर दोनों हाथ जोड कर इस प्रकार कहती है, "नमस्कार हो अरिहन्त भगवन्ता को यावत् सिद्धि गति को प्राप्त किया है वहाँ तक अर्थात् सम्पूर्ण शक्र स्तव बोलती है। वन्दन नमस्कार कर मन्दिर की

से बाहिर निकलती है।"

(मज्जन घर में द्रौपदी ने घर देरासर की पूजा की फिर बढ़िया वस्त्र पहिन कर बाहिर जिन-मन्दिर में गई है जैसे अभी भी बहुत से श्रावक करते हैं।)

श्री महाकल्पसूत्र पाठ

"तए कालेणं तेणं समएणं जाव तुङ्गीयाए नयरीए बहवे समणोवासगा परिवसति सखे, सयगे सिलप्पवाले रिसिदत्ते, दमगे, पुक्खली, निबद्धे, सुपइट्ठे, भाणुदत्ते, सोमिले, नरवम्मे आणंदकामदेवाइयो जे अन्नत्थ गामे परिवसति इड्ढा दित्ता विच्छिन्नविपुलवाहणा जाव लद्धट्ठा गहियट्ठा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्न पोसह पालेमाणा निग्गथाण य निग्गथीण य फासुएण एसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं जाव पडिलाभेमाणा चेइयालएसु तिसञ्झं चंदणपुप्फधूववत्थाइहिं अच्चणं कुणमाणा जाव विहरति से तेणट्ठेणं गोयमा ! जो जिणपडिमं न पूएइ सो मिच्छदिट्ठी जाणियव्वो, मिच्छदिट्ठिस्स नाणं न हवइ, चरणं न हवइ, मुक्खं न हवइ, सम्मदिट्ठिस्स नाणं, चरणं, मुक्खं च हवइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! सम्मदिट्ठिसड्ढेहिं जिणपडिमाणं सुगंधपुप्फचंदणविलेवणेहिं पूया कायव्वा

भावार्थ—उस काल में और उस समय में यावत् तुङ्गीया नगरी में बहुत श्रमणोपासक रहते थे। शख, शतक मितप्रवाल, ऋषिदत्त, द्रमक, पुष्कली, निबद्ध, सुप्रतिष्ठ, भानुदत्त, सोमिल, नरवर्म, आणन्द और कामदेव आदि अन्य-अन्य गामों में रहते थे। धनाढ्य तेजस्वी एवं विस्तृत बल वाहन वाले थे तथा सूत्रों के अर्थ को जानते थे। चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा और अमावास्या के दिन परिपूर्ण पौषध को पालते हुए साधु साध्वियों को फासु-दोष रहित भोजनादि बहराते थे। परमात्मा के मन्दिरों में तीन काल चन्दन, पुष्प, धूप और वस्त्र से पूजा करते हुए जिन-मन्दिर में विचरते थे। इसलिए हे गौतम! जो जिन प्रतिमाओं को पूजता है उसको समक्ति दृष्टि समझना चाहिए। जो नहीं पूजता है उसको मिथ्यादृष्टि समझना। मिथ्यादृष्टि को ज्ञान नहीं होता है, चारित्र नहीं होता है, मोक्ष नहीं होता है। समकित दृष्टि को ज्ञान, चारित्र और मोक्ष होता है। इस कारण से गौतम! सम्यग्दृष्टि को जिन प्रतिमा की पूजा सुगन्ध, चन्दन, धूप विलेपन आदि से करना चाहिए।

श्री महाकल्पसूत्र का पाठ

"से भयवं तहारूवे समणे वा माहणे वा चेइयघरे

गच्छेज्जा ? हंता ! गोयमा ! दिणे दिणे गच्छेज्जा । से भयव जत्थ दिणे न गच्छेज्जा तओ किं पायच्छित्त हवेज्जा ? गोयमा ! पमाय पडुच्च तहारूवे समणे वा माहणे वा जो जिणघर न गच्छेज्जा तओ छट्ठ अहवा दुवालसम पायच्छित्त हवेज्जा । से भयव समणोवासगस्स पोसहसालाए पोसहिए पोसहबमयारी किं जिणहर गच्छेज्जा ? हंता, गोयमा ! गच्छेज्जा । से भयव केणट्ठेण गच्छेज्जा ? गोयमा ! णाणदसणचरणट्ठाए गच्छेज्जा । जे केइ पोसहसालाए पोसहबमयारी जओ जिणहरे न गच्छेज्जा तओ पायच्छित्त हवेज्जा ? गोयमा ! जहा साहू तहा भाणियव्व छट्ठ अहवा दुवालसम पायच्छित्त हवेज्जा ।''

भावार्थ—श्री गौतम स्वामी पूछते हैं कि—'हे भगवन् ! क्या साधु और श्रावक जिन मन्दिर में जायें ?' भगवान् बोले—'हे गौतम ! सदैव नित्य प्रति जाए ।' इस पर गौतम स्वामी जी ने भगवान् जी से पूछा कि यदि न जावे तो क्या दण्ड लगता है । भगवान् जी ने उत्तर दिया कि यदि प्रमाद वश न जाए तो छट्ठ का (दो उपवास) या द्वादश भक्त(पांच उपवास) का दण्ड लगता है । फिर गौतम स्वामी ने पूछा कि "भगवन् ! क्या

पौषध धारी श्रावक पौषध में रहा हुआ जिन मन्दिर में जावे ? श्री भगवान ने उत्तर दिया कि हां गौतम, जावे। फिर गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा कि वह मन्दिर में किस लिए जावे ? श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की रक्षा के लिए जाए। गौतम स्वामी ने फिर पूछा कि यदि कोई श्रमणोपासक श्रावक पौषध शाला में पौषध में रहा हुआ जिन मन्दिर में न जाय तो क्या उसे भी प्रायश्चित्त आए। प्रभु बोले, "गौतम ! प्रायश्चित्त आए, जैसे साधु को वैसे ही श्रावक को प्रायश्चित्त जानना। वह प्रायश्चित्त छट्ठ अथवा पाच उपवास का होता है।"

श्री आवश्यकसूत्र का पाठ

"तत्तो य पुरिमताले वग्गुर ईसाण अच्चए पडिम।
मल्लिजिणायण पडिमा उण्णए वसि बहुगोट्ठी ॥१॥"

भावार्थ—पुरिमताल नगर के रहने वाले वग्गुर नाम के श्रावक ने श्री मल्लीनाथ प्रभु जी का देरासर बधाया।

श्री महानिशीथसूत्र का पाठ

"काउंपि जिणायणेहिं, मंडिय सव्वमेइणीवट्ट।
दाणाइचउक्केण सड्ढो, गच्छेज्ज अच्चुय जाव न परं ॥१॥"

भावार्थ—श्री जिन-मन्दिर से पृथ्वीतल को सुशोभित कर दानादि चार से (दान, शील, तप, भाव से) श्रावक अच्युत बारहवें देवलोक तक जाता है, इससे ऊपर नहीं।

श्री आवश्यकसूत्र का पाठ

"थूभसय भाउयाण, चउवीसं चेव जिणहरे कासी।
सव्वजिणाण पडिमा, वण्णपमाणेहिं नियएहिं ॥१॥"

भावार्थ—एक सौ भाइयों के सौ स्तम्भ और चौबीस तीर्थङ्कर महाराज के जिन मन्दिर, उनमें सब तीर्थङ्करों की प्रतिष्ठा, उनके वर्ण और शरीर के प्रमाण वाली भरत महाराजा ने श्री अष्टापद पर्वत पर स्थापित कीं।

भगवती सूत्र शतक ३, उद्देश २, सूत्र १४७

एवमेव असुरकुमारा वि देवा णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा अणगारे वा भावियप्पणो णिस्साए उड्ढं उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पोत्ति।

भावार्थ—हे गौतम! कोई निर्बल भी सबल का शरणा लेकर कार्यसिद्धि कर सकता है। इस तरह असुरकुमार के देव भी अरिहन्त—अरिहन्त भगवान् के चैत्य मूर्त्ति (मन्दिर) भावितात्मा अणगार (साधु) की निश्रा से ऊर्ध्व (वैमानिक देवों के स्थानों में) जा सकते हैं। निश्रा के बिना नहीं।

पौषध धारी श्रावक पौषध में रहा हुआ जिन मन्दिर में जावे ? श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि हां गौतम, जावे। फिर गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा कि वह मन्दिर में किस लिए जावे ? श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की रक्षा के लिए जाए। गौतम स्वामी ने फिर पूछा कि यदि कोई श्रमणोपासक श्रावक पौषध शाला में पौषध में रहा हुआ जिन-मन्दिर में न जाय तो क्या उसे भी प्रायश्चित्त आए। प्रभु बोले, "गौतम! प्रायश्चित्त आए, जैसे साधु को वैसे ही श्रावक को प्रायश्चित्त जानना। वह प्रायश्चित्त छट्ठ अथवा पांच उपवास का होता है।"

श्री आवश्यकसूत्र का पाठ

"वन्दो य पुरिमताले वग्गुर ईसाण अच्चए पडिम।
मल्लिजिणायण पडिमा उण्णाए रमि बहुगोट्ठी ॥१॥"

भावार्थ—पुरिमताल नगर के रहने वाले वग्गुर नाम के श्रावक ने श्री मल्लीनाथ प्रभु जी का देरासर बधाया।

श्री महानिशीथसूत्र का पाठ

"काउपि जिणाययणेहिं, मंडिय सव्वमेइणीवट्ट।
दाणाइचउक्केण सड्ढो, गच्छेज्ज अच्चुय जाव न पर ॥१॥"

भावार्थ—श्री जिन-मन्दिर से पृथ्वीतल को सुशोभित कर दानादि चार से (दान, शील, तप, भाव से) श्रावक अच्युत बारहवें देवलोक तक जाता है, इससे ऊपर नहीं।

श्री आवश्यकसूत्र का पाठ

"थूमसय भाउगाणं, चउवीसं चेव जिणहरे कासी।
सव्वजिणाणं पडिमा, वण्णपमाणेहिं निअएहिं ॥१॥"

भावार्थ—एक सौ भाइयों के सौ स्तम्भ और चौबीस तीर्थङ्कर महाराज के जिन-मन्दिर, उनमें सब तीर्थङ्करों की प्रतिष्ठा, उनके वर्ण और शरीर के प्रमाण वाली भरत महाराजा ने श्री अष्टापद पर्वत पर स्थापित कीं।

भगवती सूत्र शतक ३, उद्देश २, सूत्र १४७

एवमेव असुरकुमारा वि देवा णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा अणगारे वा भावियप्पणो णिस्साए उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पोत्ति।

भावार्थ—हे गौतम ! कोई निर्बल भी सबल का शरणा लेकर इष्टसिद्धि कर सकता है। इस तरह असुरकुमार के देव भी अरिहन्त—अरिहन्त भगवान् के चैत्य मूर्त्ति (मन्दिर) भावितात्मा अणगार (साधु) की निश्रा से उर्ध्व (वैमानिक देवों के स्थानों में) जा सकते हैं। निश्रा के बिना नहीं।

जम्बूद्वीपपन्नत्ति, सूत्र १२

तस्स णं सिद्धायणस्स णं बहु समरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसमाए एत्थणं महं एगे देवच्छदए पण्णत्ते पंचधणुसयाइं आयामविक्खम्भेणं साइरेगाइं पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए एत्थणं अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणामित्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठइ।

भावार्थ—सिद्धायतन के बहुत रमणीय भूमिभाग के मध्यप्रदेश में एक देवच्छन्दा है। वह देवच्छन्दा विष्कम्भ आयाम से पाच-सो धनुष्य लम्बा चौड़ा और मातिरक पांच सो धनुष्य ऊचा सर्वरत्नमय है। यहा एक सो आठ जिनेश्वर भगवान् की अपने-अपने प्रमाणवाली प्रतिमाए हैं।

जम्बूद्वीपपनति, सूत्र ८८

तासिं उप्पिं पत्तेयं २ देवच्छंदया पण्णत्ता दो जोअणाइं आयामविक्खम्भेणं साइरेगाइं दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामया जिणपडिमा वण्णओ जाव धूवकडुच्छुगा।

भावार्थ—उनकी पीठिका के ऊपर प्रत्येक प्रत्येक देवच्छन्दा है और वहा दो योजन लम्बी चौड़ी कुछ अधिक दो योजन ऊची सर्वरत्नमय ऐसी जिनप्रतिमाए हैं। इस तरह धूप दानी तक वर्णन करना।

कुमति लता उन्मीलन
अर्थात्
श्री जिन बिंब स्थापना स्तवन

भरतादिके उद्धार कराव्यो, शत्रुंजय मोझार
सोना तणा जेणे देहरां कराव्या, रत्न तणां बिंब थाप्यां।
हो कुमति! कां प्रतिमा उथापी? ए जिन वचन थापि ॥१॥

वीर पछे बसें नेवु वरसे सम्प्रति राय सुजाण।
सवा लाख प्रासाद कराव्या, सवा कोड बिंब थाप्यां
॥ हो कुमति ॥ २ ॥

द्रौपदी ए जिन प्रतिमा पूजी, सूत्रमां साख ठहराणी।
छट्ठे अंगे ते वीर भाख्यु, गणधर पूरे साखी।
॥ हो कुमति ॥ ३ ॥

संवत नवसें नाणु वरस, विमल मंत्रीश्वर जेह।
आबु तणां जेणे देहरां कराव्यां, बे हजार बिंब थाप्यां।
॥ हो कुमति ॥ ४ ॥

संवत अग्यारह नवाणु वरसे राजा कुमारपाल।
पांच हजार प्रासाद कराव्या, सात हजार बिंब थाप्यां।
॥ हो कुमति ॥ ५ ॥

संवत बार पंचाणु वरसे, वस्तुपाल तेजपाल।
पांच हजार प्रासाद कराव्या, अग्यारह हजार बिंब थाप्यां।
॥ हो कुमति ॥ ६ ॥

संवत बार बहोंतेर वरस, सघवी धन्नो जेह।
राणकपुर जेणे देहरा कराव्या, कोड नवाणु द्रव्य खरच्या।
॥ हो कुमति ।

जम्बूद्वीपपन्नत्ति, सूत्र १३

तस्स णं सिद्धाययणस्स णं बहु समरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं महं एगे देवच्छंदए पण्णत्ते पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पंच-धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए एत्थणं अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सहप्पमाणमित्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठइ।

भावार्थ—सिद्धायतन के बहुत रमणीय भूमिभाग के मध्यप्रदेश में एक देवच्छन्दा है। वह देवच्छन्दा विष्कम्भ आयाम से पाच सो धनुष्य लम्बा चौड़ा और सातिरेक पांच सो धनुष्य ऊचा सर्वरत्नमय है। यहा एक सो आठ जिनवर भगवान् की अपने अपने प्रमाणवाली प्रतिमाए हैं।

जम्बूद्वीपपन्नत्ति, सूत्र ८८

तासिं उप्पिं पत्तेअ २ देवच्छंदया पण्णत्ता दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामया जिणपडिमा वण्णओ जाव धूवकडुच्छुगा।

भावार्थ—उनकी पीठिका के ऊपर प्रत्येक-प्रत्येक देवच्छन्दा है और वहा दो योजन लम्बी चौड़ी कुछ अधिक दो योजन ऊची सवरत्नमय ऐसी जिनप्रतिमाए हैं। इस तरह धूप दानी तक वर्णन करना।

कुमति मता उन्मीलन
अर्थात
श्री जिन बिंब स्थापना स्तवन्

भरतादिक उद्धारज कीधा, शत्रुंजय मोझार
सोना तणा जणे दहेरा कराव्या रत्न तणा बिंब थाप्या।
हो कुमति! कां प्रतिमा उत्थापी? ए जिन वचन थापि ॥१॥

वार पच पन नेवु बरस, संप्रति राय सुजाण।
सवा लाख प्रासाद कराव्या, सवा कोड बिंब थाप्या
॥ हो कुमति ॥ २ ॥

द्रौपदी ए जिन प्रतिमा पूजी सूत्रमा साख ठहराणी।
छट्ठे अंगे ए वारे भाख्यु, गणधर पूरे साखी।
॥ हो कुमति ॥ ३ ॥

संवत नवसत्ताणु बरस, विमल मत्रीश्वर जेह।
आबु तणी जेणे दहेरां कराव्या, वे हजार बिंब थाप्या।
॥ हो कुमति ॥ ४ ॥

संवत अग्यारह नवाणु वरसे राजा कुमारपाल।
पांच हजार प्रासाद कराव्या, सात हजार बिंब थाप्या।
॥ हो कुमति ॥ ५ ॥

संवत बार पंचाणु बरस, वस्तुपाल तेजपाल।
पांच हजार प्रासाद कराव्या, ग्यारह हजार बिंब थाप्या।
॥ हो कुमति ॥ ६ ॥

संवत बार बहोत्तर बरस, सघवी धन्ना जेह।
राणकपुर जेणे दहेरा कराव्या, कोड नवाणु द्रव्य खरच्यां।
॥ हो कुमति ॥

जम्बूद्वीपपन्नत्ति, सूत्र १२

तस्स णं सिद्धाययणस्स णं बहु समरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं महं एगे देवच्छन्दए पण्णत्ते पंचधणुसयाइं आयामविक्खम्भेणं साइरेगाइं पंच-धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए एत्थणं अट्ठसय जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमित्ताणं सन्निक्खित्त चिट्ठइ ।

(१) भावार्थ—सिद्धायतन के बहुत रमणीय भूमिभाग के मध्यप्रदेश में एक देवच्छन्दा है । वह देवच्छन्दा विष्कम्भ आयाम से पाच सो धनुष्य लम्बा चौड़ा और सातिरेक पांच सो धनुष्य ऊचा सर्वरत्नमय है । यहा एक-सो आठ जिनवर भगवान् की अपने-अपने प्रमाणवाली प्रतिमाए हैं ।

(जम्बूद्वीपपन्नत्ति, सूत्र ८८

तासिं उप्पि पत्तेअं २ देवच्छंदया पण्णत्ता दो जोअणाइं आयामविक्खम्भेणं साइरेगाइं दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामया जिणपडिमा वण्णओ जाव धूवकडुच्छुगा ।

भावार्थ—उनकी पीठिका के ऊपर प्रत्येक प्रत्येक देवच्छन्दा है और वहा दो योजन लम्बी चौड़ी कुछ अधिक दो योजन ऊची सर्वरत्नमय ऐसी जिनप्रतिमाए हैं । इस तरह धूप दानी तक वर्णन करना ।

प्रतिमा नति फल काउस्सग्गे आवश्यकमां भाख्युं
चैत्य अर्थ वैयावच्च मुनि ने दसमे अंगे दाख्यु रे।
कुमति० ॥ ५ ॥

सुरियाभ सूरि प्रतिमा पूजी रायपसेणी माहिं,
समकित विणु भवजलमां पडतां दया न साहे बांहि रे।
कुमति० ॥ ६ ॥

द्रौपदीए जिन प्रतिमा पूजी छट्ठे अंग वाचे
तो शुं एक दया पोकारी आणा विण [illegible] माचे रे।
कुमति० ॥ ७ ॥

एक जिन प्रतिमा वंदन द्वेषे सूत्र घणां तुं लोपे।
नंदीमां जे आगम संख्या आपमती कां गोपे ॥
कुमति० ॥ ८ ॥

जिन पूजा फल दानादिक सम महानिशीथे लहिए,
अंध परंपर कुमतिवासना तो किम मनमां वहिए रे।
कुमति० ॥ ९ ॥

सिद्धारथ रायें जिन पूज्या कल्पसूत्रमां देखो
आणा शुद्ध दया मन धरतां, मिले सूत्रना लेखो रे।
कुमति० ॥ १० ॥

थावर हिंसा जिन पूजामां जो तुं देखी धूजे
तो पापी ते दूर देशथी जे तुज आवी पूजे रे।
कुमति० ॥ ११ ॥

पडिक्कमणे मुनि दान विहारे हिंसा दोष विशेष
लाभालाभ विचारी जोतां प्रतिमामां स्या द्वेष रे।
कुमति० ॥ १२ ॥

सवत तेर एकोत्तर वरसे, समरोशा रग सेठ ।
उद्धार पंदरमो शत्रुंज कीधो, ग्यारह लाख द्रव्य खरच्या ।
॥ हो कुमति ॥ ८ ॥

सवत पंदर सत्तासी वरसे, बान्शाह ने वारे,
उद्धार सोलमो शत्रुंजे कीधो, करमाशाह जस लाधो ।
॥ हो कुमति ॥ ९ ॥

ए जिन प्रतिमा जिनवर सरखी, पूजो त्रिविध तुम प्राणी
जिन प्रतिमा मा सन्देह न रखो वाचक जसनी वाणी ।
॥ हो कुमति ॥ १० ॥

श्री जिन प्रतिमा स्थापन स्वाध्याय

जेम जिन प्रतिमा वदन दीसे समकितने आलावे
अगोपाग प्रगट अरथ ए, मूरख मनमां नावे रे,
कुमति ! कां प्रतिमा उथापी ॥१॥

एम ते शुभ मति कापी रे-कुमति कां प्रतिमा उथापी ।
मारग लोपे पापी रे-कुमति ! कां प्रतिमा उथापी ?
एह अरथ अबड अधिकारे, जूओ उपाग उववाई,
ए समकितनो मारग मरडी, कहे दया शी भाई रे ।
॥कुमति० २॥

समकित विण सुर दुर्गति पामे अरस विरस आहारे
जूओ जमाली न्याए न तरीओ, हुओ बहुल ससारी रे ।
कुमति० ॥ ३ ॥

चारण मुनि जिन प्रतिमा वदे भाखिऊ भगवइ अग,
चैत्य साखि आलोयण भाखे व्यवहारे मन रगे ।

प्रतिमा नति फल काउस्सग्गे, आवश्यकमां भाख्युं
चैत्य अर्थ वैयावच्च मुनिने, दसम अंग दाख्युं रे।
कुमति० ॥ ५ ॥

सुरियाभ सूरि प्रतिमा पूजी, रायपसेणी मांहि,
समकित विण भवजलमां पडता, दया न मांहे क्यांहि रे।
कुमति० ॥ ६ ॥

द्रौपदीए जिन प्रतिमा पूजी, छट्ठे अंग वांच,
तो शुं एक दया पोकारी, आणा विण तुं माचे रे।
कुमति० ॥ ७ ॥

एक जिन प्रतिमा वंदन द्वेषे, सूत्र घणां तुं लोपे।
नंदीमां जे आगम मान्या, आपमते कां गोपे ॥
कुमति० ॥ ८ ॥

जिन पूजा फलदानादिक सम, महानिशीथे लहिए,
अंध परंपर कुमतिवासना, तो किम मनमां वहिए रे।
कुमति० ॥ ९ ॥

सिद्धारथ रायइ जिन पूज्या, कल्पसूत्रमां देखो,
आणा शुद्ध दया मन धरतां, मिले सूत्रना लेखा रे।
कुमति० ॥ १० ॥

थावर हिंसा जिन पूजामां, जो तुं देखी धूजे
तो पापी ते दूर देशथी, जे तुझ आवी पूजे रे।
कुमति० ॥ ११ ॥

पडिक्कमणे मुनि दान विहारे, हिंसा दोष विशेष
लाभालाभ विचारी जोतां, प्रतिमामां स्यो द्वेष रे।
कुमति० ॥ १२ ॥

टीका चूर्णि भाष्य उवेख्या, उवेखा निर्युक्ति,
प्रतिमा कारण सूत्र उवेख्या, दूर रह्या तुम मुगति रे।
कुमति० ॥ १३ ॥

शुद्ध परंपर चाली आवी, प्रतिमा-वन्दन वाणी
संमूर्च्छिम जे मूढ न मान, तेह अनादि कल्याण रे।
कुमति० ॥ १४ ॥

जिन प्रतिमा जिन सरखी जाने पचांगीना जाण,
कवि नयविजय कहे ते गिरुआ, कीजे तास वखाण रे।
कुमति० ॥ १५ ॥

श्री शान्तिनाथ भगवान् का स्तवन

शांति जिनेश्वर साहिब वंदो अनुभव रसनो कन्दो रे।
मुखने मटके लोचन लटके, मोह्या सुर नर वृन्दो रे॥
मोर पपीहा ने कोयल टहुके मेघ घटा जिम मोरे रे।
तेम जिन प्रतिमा निरखी हरखुं, वलि जेम चन्द चकोरो रे॥
जिन प्रतिमा 'जिनवरशी' भाखी, सूत्र घणा छे साखी रे।
सुरनर मुनिवर वंदन पूजा, करता शिव अभिलाषी रे॥
रायपसेणी प्रतिमा पूजी, सूरयाभ समकित धारी रे।
जीवाभिगम प्रतिमा पूजी विजयदेव अधिकारी रे॥
जिनवर बिम्ब विना नहीं वंदु आनन्दजी एम बोले रे।
सातम अंगे समकित मूले, अवर नहीं तस तोले रे॥
ज्ञातासूत्रे द्रौपदी पूजा, करती शिवसुख मांगे रे।
राय सिद्धार्थ प्रतिमा पूजी, कल्पसूत्र मांहे रागे रे॥

विद्याचारण मुनिवरे वंदी प्रतिमा पांचम अंग रे ।
जंघाचारण मुनिवरे वंदी, जिन पडिमा मन रंग रे ॥
आर्य सुहस्तिसूरि उपदेशे, आवो सम्प्रति राय रे ।
सवा कोडि जिनबिम्ब भराव्या, धन्य धन्य जननी माय रे ॥
मोकली प्रतिमा अभय कुमारे देखी आर्द्र कुमार रे ।
जाति स्मरण समकित पामी वरिया शिवसुख सार रे ॥
इत्यादिक बहु पाठ कह्या छे सूत्र मांहे सुखकारा रे ।
सूत्र तणो एक वर्ण उथापे, ते कह्या बहुल संसारा रे ॥
ते माटे जिन आणा धारी, कुमति कदाग्रह वारी रे ।
भक्ति तणा फल उत्तराध्ययने बोधि बीज सुखकारी रे ॥
एह भव पाय पम्या पाम्या, मालमां श्री जिनराय रे ।
सुभ मन मन्दिरीए पधराव्या धवल मंगल गवराय रे ॥
जिन उत्तम पद रूप अनुपम, कीर्ति कमलानी शाला रे ।
जीव विजय कहे प्रभुजीनी भक्ति, करतां मंगल माला रे ॥




श्री